श्री रामकृष्ण-विवेकानंद भाव-धारा की एकमात्र हिंदी मासिकी

# विवेक शिखा

वर्ष—७ जुलाई—१९८८ अंक—७

# विवेक शिखा के आजीवन सदस्य

२१. श्रीराम बिलास चौधरी—सुपौल, दरभंगा (बिहार)
२२. डा० रमेश चन्द्र प्रसाद —देवघर (बिहार)
२३. श्री मातादीन मिश्र—सारण (बिहार)
२४. एम० एम० नावालगी—कादरा (कर्नाटक)
२५. श्री हेमराज साहू—नरसिंहपुर (म० प्र०)
२६. डा० प्रकाश चन्द्र मिश्र—पटना (बिहार)
२७. श्री विनोद ब्रजभूषण अग्रवाल—नागपुर (महाराष्ट्र)
२८. श्री केशरदेव भालोटिया—जरमुण्डी (बिहार)
२९. श्री धर्मवीर शर्मा—खण्डवाया (उत्तर प्रदेश)
३०. श्री शिवशंकर सुखदेव पाटील—शेगाँव (महाराष्ट्र)
३१. श्री गजानन महाराज संस्थान—शेगाँव (महाराष्ट्र)
३२. श्री दयाशंकर तिवारी—
लाल बाजार, सीवान (बिहार)
३३. श्री राजकुमार गडोडिया—अपर बाजार (राँची)
३४. कुमारी चुक चुक —बेलगाँव (कर्नाटक)
३५. डॉ० श्रीमती वीणा कर्ण—पटना (बिहार)
३६. डॉ० सम्पत पाटील—भदोल (महाराष्ट्र)
३७. श्री रमाशंकर राय—वाराणसी
३८. श्री आर० के० यादव—फैजाबाद
३९. कुमारी कल्पना सकलेचा—बम्बई
४०. श्री हिम्मत लाल रणछोड़दास शाह—बम्बई
४१. श्री मोरण गुप्ता—रायपुर (मध्य प्रदेश)
४२. डॉ० गीता देवी—४४, टैगोर टाउन, इलाहाबाद
४३. डॉ० शील पाण्डेय—४१, टैगोर टाउन, इलाहाबाद
४४. श्री रामानन्द गुप्ता—बिसवा (उत्तर प्रदेश)
४५. श्री निशीथ कुमार घोस—तपन प्रिंटिंग प्रेस, पटना
४६. श्री नरेश कुमार कश्यप—नागपुर (महाराष्ट्र)
४७. श्रीरामकृष्ण विवेकानन्द समिति--अमरावती, महाराष्ट्र
४८. डॉ० बसंत लाल—कुराली (पंजाब)
४९. श्री गोविन्द हनढ़निया—कलकत्ता (प० बंगाल)
५०. श्री तिखिल शिवहरे—दमोह (म० प्र०)
५१. श्री बी० भी० नागोरी—कलकत्ता (प० बंगाल)
५२. श्री पवन कुमार वर्मा—समस्तीपुर (बिहार)
५३. श्री चिनुभाई भलाभाई पटेल—खेड़ा (गुजरात)
५४. श्री एस० सी० डाबरीवाला—कलकत्ता (प० बं०)
५५. श्री गोपाल कृष्ण दत्ता—जयपुर (राजस्थान)
५६. श्री बृजेश चन्द्र बाजपेई —जयपुर (राजस्थान)
५७. श्री बनवारी लाल सर्राफ—कलकत्ता (प० बं०)
५८. श्रीमती गौरी चट्टोपाध्याय—एलेन गंज, इलाहाबाद
५९. श्री वसन्त लाल जैन—कैथल (हरियाणा)
६०. डॉ० श्यामसुन्दर बोस—दूधपुरा बाजार, (समस्तीपुर)
६१. श्री केशव दत्त वसिष्ठ)—हिसार (हरियाणा)
६२. श्री के०सी० बागरी—कलकत्ता (प० बंगाल)
६३. मधु खेतान—कलकत्ता (प० बंगाल)
६४. प्रधान अध्यापिका—डोरांडा गर्ल्स हाई स्कूल, राँची

---

# इस अंक में

पृष्ठ

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत

उठो जागो और लक्ष्य प्राप्त किए बिना विश्राम मत लो

# विवेक शिखा

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा की एकमात्र हिन्दी मासिकी

वर्ष—७ जुलाई—१६८८ अंक —७

इष्टदेव का हृदय-कमल में रूप अनूप दिखा। निजानन्द में रखती अविचल विमल 'विवेक शिखा'॥

संपादक

डॉ० केदारनाथ लाभ

सहायक संपादक

शिशिर कुमार मल्लिक

श्याम किशोर

संपादकीय कार्यालय :

रामकृष्ण निलयम्

जयप्रकाश नगर,

छपरा—८४१३०१

(बिहार)

सहयोग राशि

| | |
|---|---|
| आजीवन सदस्य | ३०० रु० |
| वार्षिक | २० रु० |
| रजिस्टर्ड डाक से | ३५ रु० |
| एक प्रति | २ रु० ५० पैसे |

रचनाएं एवं सहयोग - राशि संपादकीय कार्यालय के पते पर ही भेजनेकी कृपा करें :

## श्रीरामकृष्ण नें कहा है

( १ )

उप 'एक' ईश्वर को जानो; उसे जानने से तुम सभी कुछ जान जाओगे। 'एक' के बाद शून्य लगाते हुए सैकड़ों और हजारों की संख्या प्राप्त होती है। परन्तु 'एक' को मिटा डालने पर शून्यों का कोई मूल्य नहीं होता। 'एक' ही के कारण शून्यों का मूल्य है। पहले 'एक' बाद में 'बहु'। पहले ईश्वर, फिर जीव-जगत।

( २ )

मुसाफिर को नये शहर में पहुँचकर पहले रात बिताने के लिए किसी सुरक्षित डेरे का बन्दोबस्त कर लेना चाहिए। डेरे में अपना सामान रखकर वह निश्चिन्त होकर शहर देखते हुए घूम सकता है। परन्तु यदि रहने का बन्दोवस्त न हो तो रात के समय अँधेरे में विश्राम के लिए जगह खोजने में उसे बहुत तकलीफ उठानी पड़ती है। उसी प्रकार इस संसाररूपी विदेश में आकर मनुष्य को पहले ईश्वररूपी चिर विश्रामधाम प्राप्त कर लेना चाहिए, फिर वह निर्भय होकर अपने नित्य कर्त्तव्यों को करते हुए संसार में भ्रमण कर सकता है। किन्तु यदि ऐसा न हो तो जब मृत्यु की घोर अंधकार-पूर्ण रात्रि आएगी तब उसे अत्यन्त क्लेश और दुःख भोगना पड़ेगा।

( ३ )

जब तराजू का एक पल्ला दूसरे पल्ले से भारी होकर झुक जाता है तो उसका निचला काँटा ऊपरवाले काँटे से अलग हट जाता है। इसी प्रकार जब मनुष्य का मन कामिनी-कांचन के भार से संसार की ओर झुक जाता है तो वह ईश्वर में एकाग्र नहीं हो पाता, वह उनसे दूर हट जाता है।

# श्रीरामकृष्णदासा वयम्

—स्वामी विवेकानन्द

क्षीणा स्म दीना, सकरुणा जल्पन्ति मूढ़ा जनाः
नास्तिक्यन्त्विदन्तु अहह देहात्मवादातुराः ।

प्राप्ताः स्म वीरा गतभया अभयं प्रतिष्ठां यदा ।
आस्तिक्यन्त्विदन्तु चिनुमः रामकृष्ण दासा वयम् ॥१॥

पीत्वा पीत्वा परमममृतं वीतसंसाररागाः
हित्वा हित्वा सकलकलह प्रापिणीं स्वार्थसिद्धिम् ।

ध्यात्वा ध्यात्वा गुरुवरपदं सर्वकल्याणरूपं
नत्वा नत्वा सकलभुवनं पातुमामन्त्रयामः ॥२॥

प्राप्तं यद्वै त्वानादिनिधनं वेदोदधिं मथित्वा ।
दत्तं यस्य प्रकरणे हरिहरब्रह्मादिदेवैर्बलम् ।

पूर्णं यत्तु प्राणसारैर्भौमनारायणानाम्
रामकृष्णस्तनुं धत्ते तत्पूर्णपात्रमिदं भोः ॥३॥

---

जो लोग देह को आत्मा मानते हैं, वे ही करुण कंठ से कहते हैं—हम क्षीण हैं, हम दीन हैं। यह नास्तिक्य है। हमलोग जबकि अभयपद पर स्थित हैं तो हम भयरहित वीर क्यों न हों, यही आस्तिक्य है। हम रामकृष्ण के दास हैं ॥१॥

संसार में आसक्ति से रहित होकर, सब कलहों की जड़ आसक्ति का त्याग करके, परम अमृत का पान करते हुए, सर्वकल्याणस्वरूप श्रीगुरु के चरणों का ध्यान कर, समस्त संसार को नतमस्तक होकर उस अमृत का पान करने के लिए बुला रहे हैं ॥२॥

अनादि अनन्त वेदस्वरूप समुद्र का मन्थन करके जो कुछ मिला है, ब्रह्मा-विष्णु-महेश आदि देवताओं ने जिसमें अपनी शक्ति का नियोग किया है, जिसे पार्थिव नारायण कहना चाहिए अर्थात् जिसमें भगवदवतारों के प्राणों का सारपदार्थ है, श्रीरामकृष्ण अमृत के पूर्ण पात्रस्वरूप उसी देह को लेकर आये थे ॥३॥

# जीव सेवा : एक साधना-एक उपासना

**मेरे आत्मस्वरूप मित्रो,**

एक बार स्वामी विवेकानन्द (तब श्री नरेन्द्रनाथ दत्त) ने श्रीरामकृष्ण से निवेदन किया कि हमलोग चूंकि सारा समय ध्यान-साधना में ही नहीं लगा सकते इसलिए ध्यान-साधना और शास्त्र-अध्ययन के उपरान्त जो समय बचता है उसे हमलोग जीवों पर दया करने में क्यों न लगावें? जो दीन-गरीब लोग हैं उन पर दया कर, उनके कल्याण के लिए हमलोगों को कुछ प्रयत्न करना ही चाहिए। लेकिन श्रीरामकृष्ण ने ईषत् क्रोध प्रकट करते हुए कहा—"दया क्या रे? तू कौन है किसी पर दया करने वाला?" स्वामीजी को श्रीरामकृष्ण की यह बात नहीं जंची। उन्होंने बार-बार जीव-दया करने पर जोर डाला और बार-बार श्रीरामकृष्ण ने दया-भाव की भर्त्सना की। अंत में श्री नरेन्द्रनाथ को समझाते हुए उन्होंने कहा—देखो नरेन्द्र, तुम जीवों पर दया नहीं कर उनकी सेवा करो—ईश्वर बुद्धि से उनकी सेवा करो। तुम दया करने वाले कौन हो? तुम सेवा करोगे। सभी प्राणियों में वे (ईश्वर) ही निवास करते हैं, यही समझकर, शिव ज्ञान से, जीवों को शिव मानकर तुम उनकी सेवा करोगे।

यह बात श्रीरामकृष्ण के मुंह से जब निकली तब एक चमत्कार हो गया। वह बड़ा शुभ लग्न था- एक माहेन्द्र क्षण, एक शिवात्मक वेला, एक महत्तम मुहूर्त। स्वामीजी का तो रूपान्तरण हो गया। वे बोल उठे,—'आज ऐसी एक अपूर्व बात मैंने सुनी है कि यदि भगवान् ने समय दिया तो इस बात को सारे संसार में डंके की चोट पर सुनाऊंगा और इस मंत्र को कार्य रूप में परिणत करूंगा।"

जीवों के प्रति दया नहीं, जीवों को शिव समझकर, शिव मानकर उसी शिव-बुद्धि से उनकी सेवा करना—क्या विलक्षणता थी इस वाक्य में? क्या अन्तर था 'दया' और 'सेवा में? कौन-सा गूढ़ गंभीर अर्थ छिपा था श्रीरामकृष्ण के इस सूत्र वाक्य में? ऐसा क्या था इस ऋचा में कि स्वामीजी इसे सुनकर ही विस्मय-विमुग्ध हो गये थे, चकित-चमत्कृत हो गये थे और एक अन्तर-आह्लाद से भर कर उन्होंने कहा—समय आने पर इसका मर्म सारे संसार को बताऊंगा।

श्रीरामकृष्ण ने इस सूत्र के माध्यम से नरेन्द्रनाथ को समझाया था कि दया करने से दया के पात्र से हम अपने को श्रेष्ठ, शक्तिमान, समर्थ और सबल समझने लगते हैं तथा जिस पर हम दया करते हैं उसे अपने से हीन और असक्त। इससे हमारे मन में अहंकार का भाव जगता है, अपने में उच्चता का बोध होता है, भेद-बुद्धि उत्पन्न होती है। और दया करके हम अपने अहंकार को तुष्ट कर एक प्रकार का भोग ही भोगते हैं। इस प्रकार दया का भाव हमें गिराता है जबकि सेवा का भाव, निःस्वार्थ सेवा का भाव, नहीं-नहीं, जीव को शिव मानकर उनकी सेवा करने का भाव हमें पूजा करने की स्थिति में

ला खड़ा करता है। सही अर्थ में हम सेवा नहीं जीव रूपी शिव की पूजा करते हैं। पूजा में अहंकार कैसा? इस भाव में आने पर जिसकी सेवा हम करते हैं वह हमारा कृतज्ञ नहीं होता बल्कि हम उसके कृतज्ञ होते हैं, क्योंकि उसने हमें वह अवसर प्रदान किया कि उसके चरणों पर हम सेवा के कुछ सुमन अर्पित कर सकें। स्वभावतः सेवा, शिवज्ञान से जीव की सेवा का भाव हमारे अहंकार को झाड़ता है हमारे चित को शुद्ध एवं पवित्र करता है। निरहंकृत कर्म, अहंकार भाव से शून्य होकर किया गया कर्म हमारे चित्त को वृत्तिहीन करता है, उसे निर्मलता प्रदान करता है, स्वच्छता और शुद्धता प्रदान करता है। और निरहंकृत चित्त वाला पुरुष ही तो ब्रह्म है। अत: सेवा हमें ब्रह्मत्व में रूपान्तरित करने का सर्वोत्तम साधन है। स्वामीजी ने श्रीरामकृष्ण के सेवा-मंत्र में छिपे सारे रहस्यों को जैसे एकबारगी अपनी मर्म भेदिनी दृष्टि से देख लिया था। इसी से वे उस दिन चकित-चमत्कृत थे, भाव-विह्वल थे। उन्होंने श्रीरामकृष्ण के प्रति कहा था—"इस पगले ब्राह्मण के चरणों पर मेरा मस्तक बिक गया।" स्वामी जी के सेवाधर्म—शिव-ज्ञान से जीव-सेवा करने के भाव—का सूत्रपात श्रीरामकृष्ण के इसी कथन से उस दिन हुआ था।

श्रीरामकृष्ण ने नरेन्द्रनाथ को उस दिन जो कहा था, कुछ वैसा ही कभी श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा था। परब्रह्म को प्राप्त करने के उपायों में एक महत्तम उपाय यह है कि समस्त प्राणियों के हित साधन में अपने को अर्पित कर दिया जाय।

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः॥ (गीता ५।२५)

अर्थात् वे पुरुष शान्त परब्रह्म को उपलब्ध होते हैं जो पाप रहित एवं संशयहीन होकर सम्पूर्ण जीवों के हित साधन में अपनी रति रखते हैं। इतना ही नहीं, श्रीकृष्ण ने जोर देकर अर्जुन को समझाया कि समस्त जीवों का हित करनेवाला (सर्वभूतहिते रताः) मुझे ही उपलब्ध करते हैं। (गीता १२-३-४)

भक्त प्रह्लाद ने भगवान से वर माँगते हुए कहा था—

न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं ना पुनर्भवम्।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनाम् आर्तिनाशनम्॥

हे प्रभु, मुझे राज्य की कामना नहीं है, न मैं स्वर्ग की ही आकांक्षा रखता हूँ और न पुनर्जन्म से ही मैं घबड़ाता हूँ। मेरी तो एक ही आकांक्षा है, एक ही कामना है कि दुःख से तप्त समस्त प्राणियों की पीड़ा का नाश हो।

भगवान बुद्ध ने अपने शिष्यों से कहा था—

चरथ भिक्खवे चारिकं बहुजन हिताय बहुजन सुखाय।

ईसा मसीह ने अपने शिष्यों को आदेश दिया था—'रोगियों को चंगा करो, कोढ़ियों के कुष्ठ को साफ करो,………ईश्वर ने तुम्हें निःशुल्क शक्ति दी है, तुम भी मुक्त भाव से सेवा करो।' उन्होंने एक

धनी युवक से कहा था—'go thy way, sell whatever thou hast and give to the poor and thou shalt have treasure in heaven and come, take up the cross and follow me' (the Bible, Mark × 7 ) अर्थात् 'वापस जाओ, जो कुछ तुम्हारे पास हैं उन्हें बेच दो और निर्धनों में बाँट दो, तुम्हें स्वर्ग का रत्नकोष मिलेगा और तब आओ, धर्म ग्रहण करो और मेरा अनुसरण करो।''

एक बार हजरत मोहम्मद के एक शिष्य ने उनके पास आकर उनसे अनुनय किया—'हजरत, मेरी माँ मर गयी है। आप बताएं कि सबसे मूल्यवान वह कौन-सा दान है जो मैं अपनी माँ की आत्मा की शान्ति और सुख के लिए लोगों को दे सकूँ।'हजरत थोड़ी देर सोचते रहे। फिर अरब देश की भीषण गर्मी का ख्याल कर उन्होंने अपने उक्त शिष्य से कहा—'पानी, अपनी माँ के नाम एक कुआँ खुदवाओ और प्यासों को पानी दो।'

गोस्वामी तुलसीदास ने कहा है—

परहित सरिस धर्म नहि भाई ।
पर पीरा सम नहि अधमाई ॥

मैं आपसे यह कहना चाहता हूँ कि सेवा के महत्व को सभी धर्मगुरुओं और धर्मों ने निःसंकोच भाव से स्वीकारा है। ईश्वर के स्वरूप और उन्हें प्राप्त करने के उपायों के सम्बन्ध में, उपासना की पद्धतियों के विषय में, जीव और ईश्वर के सम्बन्धों के विषय में विभिन्न धर्मों की अलग-अलग धारणाएँ हैं, भिन्न-भिन्न मान्यताएँ हैं, लेकिन जिस एक बात में सभी धर्म सहमत हैं वह है सेवा के माध्यम से ईश्वर की ओर की यात्रा ।

लेकिन अन्य धर्मों या धर्मगुरुओं के सेवा के आदर्श से श्रीरामकृष्ण के सेवा के आदर्श में भिन्नता है, एक महत्वपूर्ण भिन्नता। सेवा करने पर बल तो श्रीरामकृष्ण के पूर्व के प्रायः सभी धर्माचार्यों ने दिया किन्तु जीव की सेवा शिव भाव से करने का निर्देश इनके पूर्व के किसी धर्म गुरु ने नहीं दिया था। सेवा की दृष्टि में भी अन्तर है। हम किसी प्यासे को पानी देकर, किसी रोगी को दवा और पथ्यादि देकर, किसी छात्र को निःशुल्क शिक्षा देकर उसकी सेवा कर सकते हैं। और हर सेवा सेवा ही है—एक महत्व-पूर्ण साधना। लेकिन ऐसी सेवा से मन के किसी एकान्त में छिपे अहंकार के जग जाने की सम्भावना से इन्कार नहीं किया जा सकता। ऐसी सेवा में भी एक प्रतिदान की भावना उत्पन्न हो सकती है। नाम और यश की कामना जग सकती है। 'मैंने बहुत लोगों की सेवाएँ की हैं'—यह भाव भी जग जा सकता है। वैसे, नाम और यश की आकांक्षा से की गयी सेवा का भी कोई कम महत्व नहीं है । समाज को स्वस्थ रखने के लिए किसी न किसी रूप में सेवा करने का भाव हममें रहना ही चाहिए। लेकिन श्रीरामकृष्ण थे एक आदर्श गुरु। उन्होंने अपने शिष्यों को जिस सेवा के करने का उपदेश दिया वह सेवाभाव से नहीं, पूजा-भाव से। उन्होंने सेवा को पूजा का प्रतिरूप बनाकर प्रस्तुत किया। इससे सेवा भी हो सकती है और अहंकार से मुक्त भी रहा जा सकता है। हम जिसकी सेवा करने जा रहे हैं वह कोई जीव नहीं है—साधारण जीव नहीं है। बल्कि वह तो साक्षात् शिव ही है। परमपिता परमात्मा ही अभी हमारे समक्ष एक प्यासे के रूप में, एक कुष्ठ रोगी के रूप में, एक निर्धन भिखारी के रूप में, एक छात्र के रूप में, एक आर्त प्राणी के रूप में, एक वेश्या और एक कुलटा के रूप में प्रस्तुत हो गये हैं, उपस्थित हो गये हैं। हम प्यासे को नहीं, शिव को पानी दे रहे हैं; हम भिखारी को नहीं, शिव को अन्न

दे रहे हैं; हम कोढ़ी को नहीं, शिव की शुश्रूषा कर रहे हैं, हम छात्र को नहीं, शिव को शिक्षा दे रहे हैं, हम वेश्या और कुलटा को नहीं शिव को गंदे वातावरण से निकाल रहे हैं। यह भाव है जीव को देखने का। यहाँ सेवा सेवा नहीं रह कर पूजा में ढल जाती है। हर जीव शिव का प्रतिरूप हो जाता है।

हमारी पूजा से शिव कृतज्ञ हो रहे हैं—यह भाव भी हमारे मन में नहीं जगता। शिव की पूजा कर हम कृतज्ञ होते हैं। हम निहाल होते हैं—यह देखकर कि शिव ने हमारी पूजा स्वीकार की। इसी प्रकार जब शिव-भाव से हम जीव की सेवा करते हैं तब हम स्वयं उपकृत होते हैं—यह देखकर कि उस शिव ने हमें सेवा के द्वारा अपनी पूजा करने का अवसर प्रदान किया। जिसकी हम सेवा करते हैं वह हमसे उपकृत हुआ, यह भाव ही हमारे मन में नहीं पनपता।

फिर एक शराबी, एक वेश्या, एक रोगी, एक पिपासित क्षुधार्त प्राणी, एक निर्धन छात्र—इन सबको देख कर, इनकी हीनदशा देखकर हमारे मन में इनके प्रति घृणा का भाव नहीं जगता। ये सब शिव हैं। शिव ने कैसे-कैसे वेश बनाये हैं! कैसी-कैसी दशा कर रखी है अपनी! और अगर ऐसी दशाएं उन्होंने अपनी नहीं कर ली होती, अगर ऐसे-ऐसे रूप उन्होंने धारण नहीं कर लिए होते तो हमें उस विराट् शिव की सेवा करने का कस्तूरी अवसर ही कैसे मिलता? तब फिर उस शिव की निष्काम-निरहंकृत पूजा करने की वासन्ती वेला ही हमें कहाँ मिलती? धन्य हैं शिव, जिन्होंने अपनी अनन्त-अशेष करुणा से हमारे चित्त की शुद्धि के लिए, हमारे मन के मार्जन के लिए स्वयं दुःख उठाकर उन्होंने ऐसे-ऐसे दुःखियों का रूप धारण कर लिया। हम कृतज्ञ हैं उन परम शिव के जिनकी अहेतुकी कृपा से सरलतापूर्वक हम अपने चित्त की डाल पर सेवा के फूल उगा सकते हैं।

स्वामी विवेकानन्द ने अपने गुरु के मुख से, इसी से, जब दया की जगह जीव को शिव-भाव से सेवा करने का संदेश सुना तो उनका हृदय खिल उठा। समय आने पर उन्होंने संसार में डंके की चोट पर घोषणा की—'पवित्र होना और दूसरों का हित करना सभी उपासनाओं का यही सार है। जो दरिद्रों और रोगियों में शिव को देखता है, वही शिव की सच्ची पूजा करता है, और यदि वह केवल प्रतिमा में शिव को देखता है, तब उसकी पूजा मात्र प्रारंभिक है।"

शिकागो से ३ मार्च, १८९४ को अपने एक शिष्य को लिखे पत्र में स्वामीजी ने बड़ी गम्भीरता से लिखा था—

'हमें विश्वास है कि सभी प्राणी ब्रह्म हैं। प्रत्येक आत्मा मानो बादल से ढँके हुए सूर्य के समान है और एक मनुष्य से दूसरे का अन्तर केवल यही है कि कहीं सूर्य के ऊपर बादलों का घना आवरण है और कहीं कुछ पतला। हमें विश्वास है कि यही सब धर्मों की नींव है, चाहे कोई उसे जाने या न जाने। और मनुष्य की भौतिक, मानसिक अथवा आध्यात्मिक उन्नति के सारे इतिहास का मूल तत्व यही है कि एक ही आत्मा भिन्न उपाधि या आवरण के द्वारा अपने को प्रकाशित करती है।

हमें विश्वास है कि यही वेद का चरम रहस्य है।

हमें विश्वास है कि हरएक मनुष्य को चाहिए कि वह दूसरे मनुष्य को इसी तरह, अर्थात् ईश्वर समझकर, सोचे और उससे उसी तरह अर्थात् ईश्वर-दृष्टि से बर्ताव करे; उसकी किसी तरह भी घृणा

या निन्दा करना अथवा उसे हानि पहुँचाने की चेष्टा करना उसे बिल्कुल उचित नहीं। यह केवल संन्यासी का ही नहीं, वरन् सभी नर-नारियों का कर्तव्य है।"१

वस्तुतः जीव को शिव मानकर जब तक हम आचरण करना नहीं सीखेंगे तब तक हम न तो अपना स्वरूप ही जान सकेंगे और न लोकमंगल का ही कार्य कर सकेंगे।

सेवा स्वयं को जानने का एक मनोरम प्रयत्न है।

सेवा आत्मज्ञान का एक मंगल प्रभात है।

सेवा विश्व-जीवन से एकात्म होने का सुरम्य संगीत है।

सेवा विषमता और विभेद की मरुभूमि में समता की शीतल सरिता है।

सेवा एक मंत्र है, आत्म-प्रसार का।

सेवा एक तंत्र है, आत्म-साक्षात्कार का।

सेवा एक यंत्र है, उपलब्ध समय को सार्थक करने का।

जहाँ सेवा है, वहाँ द्वैत नहीं है—आत्मा परमात्मा का, मैं और तू का।

जहाँ सेवा है, वहाँ कामना या राग नहीं है।

जहाँ निष्कामता है, वहीं जीवन की धन्यता है, शान्ति है, आनन्द है।

मनुष्य कुछ किये बिना रह नहीं सकता। हर क्षण उसे कोई न कोई कर्म करते ही रहना होता है। और अगर कुछ करना है ही तो हमें सेवा ही करनी चाहिए। सेवा का राग न रोग है न भोग। अगर हम सेवा नहीं करेंगे तो भोग ही करना होगा। कामना से किया गया कर्म ही भोग है। और ऐसा कोई भोग नहीं जिसकी परिणति रोग में नहीं होती हो। भोग हमें बांधता है—सुख-दुःख के बन्धन में, माया-मोह के बन्धन में। भोग और शान्ति में वैर है। हमें यदि शान्ति चाहिए, आनन्द चाहिए तो भोग से विरत करना होगा अपने को और सेवा में समर्पित करना होगा स्वयं को।

सेवा हमें स्वाधीन करती है, बांधती नहीं। यह मेरा शरीर है और मैं एक शरीर हूँ यह बोध जब तक रहेगा, सेवा नहीं हो सकती। सेवा के लिए यह मानकर चलना होता है कि मेरा कुछ नहीं है और न मैं कुछ हूँ। सारा जगत प्रभु का प्रकाश है, प्रभु का है। अतः मैं जगत अर्थात् प्रभु का सेवक ही हो सकता हूँ, और कुछ नहीं। अपने अमर जीवन के लिए, स्वाधीन जीवन के लिए, चिन्मय जीवन के लिए, अपने लिए कुछ नहीं किया जा सकता। जो कुछ किया जायगा, वह प्रभु के लिए। अपने सुख के लिए किया गया कर्म बन्धन है। ईश्वरमय जगत के मंगल के लिए किया गया कर्म सेवा है।

सेवा जीव रूपी शिव से हमें जोड़ने का सबसे बड़ा साधन है। अतः सेवा सबसे बड़ा योग है।

सेवा का फूल निष्कामता के तपोवन में खिलता है। प्रभु को समस्त जगत् और जीवों में देखने की दृष्टि की डाल पर सेवा की कलिका चटकती है। अतः सेवा सबसे बड़ा ज्ञान है।

भक्ति 'भज' धातु से निष्पन्न होती है। 'भज् सेवायाम्' अर्थात् भक्ति सेवा को कहते हैं। जीव को

१. पत्रावली : प्रथम भाग : रामकृष्ण आश्रम, नागपुर : पृ० ११२-१३।

शिव मानकर जब हम उनकी सेवा करते हैं तब हम मानो शिव की भक्ति ही तो करते हैं। 'यद्यत कर्म करोमि तत्तदखिलं शम्भो तवाराधनम् ।' हे शिव, मेरे सारे कर्म तुम्हारी ही आराधनाएँ हैं। अतः सेवा सबसे बड़ी भक्ति है।

और सेवा से निष्कलुष, निर्मल और कोई कर्म नहीं हो सकता। अतः सेवा सर्वोत्तम कर्म है।

यानी सेवा सर्वोत्तम योग है, महत्तम ज्ञान है, श्रेष्ठतम भक्ति है और शुद्धतम कर्म है।

सेवा के मूल में त्याग का भाव होता है। सेवा से त्याग की सामर्थ्य आती है। त्याग के सरोवर में प्रेम का कमल खिलता है। और प्रेम प्रभु को प्रिय है—'रामहि केवल प्रेम पियारा।' तो सेवा से त्याग, त्याग से प्रेम और प्रेम से प्रभु का एक सूत्र जुड़ा हुआ है। प्रेम और ज्ञान में कोई भेद नहीं है। दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। अतः समस्त तत्वों के मूल में है सेवा।

स्वामी विवेकानन्द ने इसी सेवा और त्याग पर सदैव जोर दिया और विश्व मानव को एकात्मता के तार में जोड़ने का प्रयत्न किया। स्वामी ब्रह्मानन्द को लिखे अपने एक पत्र में स्वामीजी ने कहा—'त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः (एक मात्र त्याग के द्वारा अमृतत्व की प्राप्ति होती है) त्याग, त्याग—इसी का प्रचार अच्छी तरह करना होगा। त्यागी हुए बिना तेजस्विता नहीं आने की।'[२] इसी प्रकार एक पत्र में स्वामीजी ने लिखा—'जिस देश में करोड़ों मनुष्य महुए के फूल खाकर दिन गुजारते हैं, और दस-बीस लाख साधु और दस-बारह करोड़ ब्राह्मण उन गरीबों का खून चूसकर पीते हैं और उनकी उन्नति के लिए कोई चेष्टा नहीं करते, क्या वह देश है या नरक ? क्या वह धर्म है या पिशाच का नृत्य ? भाई, इस बात को गौर से समझो—

सर्वशास्त्र पुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम् ।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम् ।।

—सब शास्त्रों और पुराणों में व्यास के ये दो वचन हैं—परोपकार से पुण्य होता है और पर-पीड़न से पाप।"[३]

बड़ी करुणा से भर कर स्वामीजी ने २६ अक्टूबर १८९४ को शिकागो से आलासिंगा को लिखा था—'मेरी ओर मत ताको, अपनी ओर देखो।······वत्स, प्रेम कभी निष्फल नहीं होता; कल हो चाहे परसों, या युगों के बाद पर सत्य की जय अवश्य होगी। प्रेम ही मैदान जीत लेगा। क्या तुम अपने भाई—मनुष्य जाति को प्यार करते हो ? ईश्वर को फिर कहाँ ढूँढ़ने चले हो,—ये सब गरीब, दुःखी, दुबले मनुष्य क्या ईश्वर नहीं है ? इन्हीं की पूजा पहले क्यों नहीं करते ? गंगातट पर फिर कुआँ खोदने की चेष्टा क्यों ? प्रेम की असाध्य साधिनी शक्ति पर विश्वास करो। क्या तुम्हारे पास प्रेम है ? तब तो तुम सर्वशक्तिमान हो। क्या तुम सम्पूर्ण निःस्वार्थ हो ? तो फिर तुम्हें कौन रोक सकता है ?"[४]

त्याग और प्रेम, सेवा के ये दो चरण हैं। मुझे नाम नहीं चाहिए, यश नहीं चाहिए, धन-वैभव नहीं चाहिए मुझे कुछ नहीं चाहिए—यह भाव आये बिना सेवा हो नहीं सकती। मेरा हर कर्म प्रभु रूपी जीव और जगत को समर्पित है, मेरी हर शक्ति, हर वस्तु अनन्त जीवों में निवास करनेवाले शिव को अर्पित

---

२. पत्रावली : प्रथम भाग : पृ० १८१ ३. वही : प्रथम भाग : पृ० १८१
४. वही : " " : पृ० १९३

है, इस भाव के बिना सेवा हो नहीं सकती। और फिर, जिसकी हम सेवा करते हैं उनके प्रति अशेष प्रेम हुए बिना भी सेवा नहीं हो सकती।

जगत का सत्य क्या है ? तात्विक दृष्टि से देखा जाय तो इस विश्व में एक ही परम सत्ता है जो विभिन्न रूपों में, विभिन्न जीवों में अपने को भासमान कर रही है। कोई व्यक्ति केवल मेरा बन्धु नहीं है, बल्कि मेरा निज स्वरूप ही है। जो सत्ता मुझमें व्याप रही है, वही उसमें भी व्यापती है। यदि मैं शिव हूँ तो सारा जगत मेरी ही सत्ता का प्रसार है, मेरा ही आत्म-प्रसार है। ऐसी स्थिति में, संसार के किसी भाग के किसी प्राणी या जीव को आहत कर मैं स्वयं को आहत करता हूँ, उस परम चैतन्य परमात्मा के किसी स्वरूप को ही आहत करता हूँ। अतएव, जब हमलोग अपने को दूसरों से अलग एक भिन्न सत्ता के रूप में देखते हैं, अपने को सीमित दायरे में आबद्ध कर लेते हैं और अपने निजी हितों के साधन में ही संतुष्ट होने लगते हैं, तब हम एक व्यापक, एक चिरन्तन, एक शाश्वत सत्य को नकारते होते हैं और एक झूठ को, एक धोखे को, एक भ्रम को सिरजते होते हैं। और इस प्रकार एक गहरे अज्ञान में स्वयं को डालकर एक मिथ्या अहं से अपने को जोड़कर अनेकानेक दुःखों को भोगने के लिए हम अभिशप्त हो उठते हैं। लेकिन जब हम दूसरों को दूसरा नहीं मानकर जितना ही उन्हें अपना स्वरूप समझते हैं और इस प्रकार उन परमेश्वररूपी जीवों के प्रति त्याग और प्रेम के भाव से सराबोर होकर उन्हें अपनी सेवा का नैवेद्य अर्पित करते हैं उतना ही हम सत्य के अधिक करीब होते हैं। स्वभावतः सेवा हमें 'स्व' की पहचान में केवल सहायता ही नहीं करती बल्कि सत्य के समीप भी ला खड़ा करती है। अतएव —

स्व की पहचान ही सत्य-बोध की भूमिका है।
सत्य-बोध ही मुक्ति का सोपान है !
सेवा ही सत्य के कैलास शिखर पर ले जानेवाली संगिनी है।
स्वभावतः सेवा श्रद्धा की प्रतिरूप है।

श्रद्धा ही अपनी पूर्णता में आकर सेवा में रूपायित हो जाती है। क्योंकि श्रद्धा से किया गया हर कर्म निःस्वार्थ होगा, प्रेम पूर्ण होगा, निष्काम होगा। श्रद्धा की भवानी ही सेवा में ढल कर सत्य के शिव से तदाकार हो जाती है—अर्द्धनारीश्वर हो जाती है। अर्थात् सेवा हमें खंड से अखंड की ओर, सीमा से असीम की ओर, लघुता से पूर्णता की ओर तथा मिथ्या से सत्य की ओर ले जाती है। स्वामी विवेकानन्द कहते हैं—'जिसने एक भी गरीब व्यक्ति की सेवा और सहायता बिना उसकी जाति या सम्प्रदाय का ख्याल किये हुए उसमें शिव का बोध कर, की है उससे शिव अधिक प्रसन्न होते हैं बजाय उस व्यक्ति के जो शिव को केवल मंदिरों में ही देखता है। जो शिव की सेवा करना चाहता है, उसे उनकी संतानों की अवश्य ही सेवा करनी चाहिए।......और यह सुन्दर कर्म है। इस शक्ति से चित्त-शुद्धि होती है और तब शिव, जो प्रत्येक प्राणी में निवास कर रहे हैं, अभिव्यक्त हो उठेंगे।'[5] बड़े आवेग से स्वामीजी ने एक युवक से, जिसे मानसिक शान्ति नहीं मिल रही थी, जीसस क्राइस्ट की भाँति उपदेश दिया था —'मेरे बच्चे, यदि तुम्हें मेरे शब्दों के प्रति थोड़ा भी आदर भाव हो तो तुम्हें करने के

५. कम्पलीट वर्क्स आँफ स्वामी विवेकानन्द : खंड ३ (१९४८), पृ० १४२

लिए मेरा प्रथम परामर्श यह है कि अपने कमरे की सभी खिड़कियों और दरवाजों को खोल दो········ अनेकानेक व्यक्ति पतन और दरिद्रता के गर्त में डूबे हुए हैं······उनके पास जाओ और उत्साह और परिश्रमपूर्वक उनकी सेवा करो, काफी सावधानी के साथ उनकी शुश्रूषा करो, जो भूखा है उसे भोजन दो, अनपढ़ों को शिक्षा दो और अगर इस रीति से तुम अपने भाइयों की सेवा करना शुरू कर दो···तब तुम निश्चय ही शान्ति और सान्त्वना पाओगे।''

आज जीव की शिव-दृष्टि से सेवा करने की जितनी आवश्यकता है उतनी शायद कभी नहीं थी। केवल अपनी आध्यात्मिक साधना के लिए ही नहीं, केवल परम सत्य की उपलब्धि के लिए ही नहीं, केवल स्व-रूप के साक्षात्कार के लिए ही नहीं, बल्कि वर्तमान विभ्रान्त, पथहारा और विसंगतियों से पूर्ण समाज के स्वास्थ्य और सौन्दर्य के संवर्धन के लिए भी जीव की शिव-दृष्टि से सेवा करने की प्रयोजनीयता है! एक डाक्टर अपने रोगियों की शिव-दृष्टि से सेवा करे, शिक्षक अपने छात्रों में शिव का दर्शन कर उन्हें शिक्षा प्रदान करे, राजनेता जन-गण में शिव का साक्षात्कार कर उनकी सेवा करे, दफ्तर का कर्मचारी, कारखाने का मजदूर, खेतों में काम करने वाला किसान हर कोई शिव के लिए, केवल शिव के लिए सेवा करने लगे तब हमारे समाज और राष्ट्र का स्वरूप कितना सुन्दर, कितना सुघड़ और कितना भद्र हो जायगा, इसकी सहज कल्पना की जा सकती है। इसीसे श्रीरामकृष्ण ने कभी स्वामी विवेकानन्द से कहा था 'दया नहीं रे, जीव की सेवा करो—शिव-भाव से।'

भगवान् श्रीरामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्दजी महाराज से मेरी आन्तरिक प्रार्थना है कि वे हम सब में जीव की शिव-दृष्टि से सेवा करने की शक्ति प्रदान करें ताकि ऐसी सेवा के द्वारा हम अपने जीवन को धन्य कर सकें, अपने प्राप्त समय का सदुपयोग कर सकें, श्रद्धा, प्रेम और त्याग की त्रिवेणी में नहाकर सेवा के सुमन लेकर जीव में बसे शिव की मौन-नीरव अर्चना-आराधना कर सकें। जय श्रीरामकृष्ण! जय स्वामीजी!!

# श्रीरामकृष्ण के वचन और वेदान्त

—स्वामी वेदान्तानन्द
रामकृष्ण मिशन आश्रम, पटना

"अपने को पहचान लेने पर मनुष्य भगवान को पहचान सकता है। 'मैं कौन हूँ' इसका अच्छी तरह विचार करने पर देखा जाता है कि 'मैं' जैसी कोई वस्तु नहीं है। हाथ, पाँव, रक्त, मांस आदि में 'मैं' कौन है? जिस तरह प्याज का छिलका निकालते-निकालते केवल छिलका ही निकलता है, कुछ सार नहीं रह जाता, उसी तरह विचार करने पर 'मैं' जैसा कुछ नहीं मिलता। अन्त में जो रह जाता है वही है आत्मा—चैतन्य। 'मेरा' 'मैंपन' के दूर होने पर भगवान को देखा जा सकता है।

(श्रीरामकृष्ण-उपदेश, आत्मज्ञान—१)

श्रीरामकृष्ण के इस वचन से कठोपनिषद् के कई मंत्रों का मेल है। इस उपनिषद् के २/३/१७ वें

मंत्र में है—"मनुष्य के हाथ के अंगूठे के समान लम्बा पुरुष, जो अन्तरात्मा के रूप में हर समय मनुष्य के भीतर विराजमान है; उन्हें धीरज पूर्वक शरीर से अलग करना होगा—'आत्मा शरीर नहीं है' इसका अनुभव करना होगा। मूंज घास से उसकी डंठल निकालने में जैसे धीर-स्थिर भाव से डंठल के ऊपर के पत्तों को एक एक कर निकालना पड़ता है उसी तरह धीरजपूर्वक आत्मा को देह–इन्द्रिय आदि से अलग अनुभव करना होगा—जानना होगा कि यह आत्मा सर्वदा शुद्ध है और उसका जन्म-मरण नहीं होता।

इस मन्त्र में आत्मा को 'पुरुष' कहा गया है। देह एक 'पुर' होती है अथवा पुर है देह। आत्मा पुर रूपी देह में निवास करती है अतः ब्रह्म या आत्मा पुरुष है। व्याकरण के अनुसार पुरुष शब्द दो रूपों में निष्पन्न होता। जैसे, पुर शब्द के बाद बस् धातु से कर्तृवाच्य में 'क' प्रत्यय अथवा, 'पुर' शब्द के बाद कर्तृवाच्य में 'कुषन्' प्रत्यय।

ब्रह्म संसार में सर्वत्र हर वस्तु को पूर्ण किये हुए हैं जिससे उन्हें पुरुष कहा जाता है।

पुरुष को अंगुष्ठमात्र कहा गया है।

साधना की प्रथम अवस्था में 'ब्रह्म सर्वव्यापी हैं' इसकी धारणा नहीं हो पाती। किसी एक अवलम्बन की जरूरत होती है। हृदय की बगल के तथा पीठ के बीच जो आकाश या खाली जगह है वहाँ कमल का पुष्प है, इसका चिन्तन करना पड़ता है। इस कमल के खिलने के पहले जब दल अलग होते हैं उस समय वह अंगूठे के समान लम्बा रहता है। आत्मा इस कमल के मध्य में विराजमान हैं, इसी से वे 'अंगुष्ठ मात्र' हैं।

कठ उपनिषद् के २/१/१२ एवं २/१/१३ वें मन्त्र में उस पुरुष को अंगुष्ठमात्र कहा गया है। इन दो मन्त्रों में 'पुरुष' को 'ईशान' कहा गया है। जो कुछ हुआ है और बाद में जो कुछ होगा उन सबके वे नियामक हैं। अतीत एवं भविष्य के नियामक होने के कारण वे वर्तमान के तथा सभी कार्यों के नियन्ता हैं। इन दोनों मन्त्रों में आत्मा, पुरुष (ब्रह्म) धूम रहित अग्नि के आलोक की भाँति निर्मल एवं प्रकाशक कहे गये हैं। वे आज हैं और आनेवाले कल को भी रहेंगे। वे अतीत, वर्तमान और भविष्यत् तीनों कालों में समरूप से रहते हैं। इस पुरुष को जान लेने पर मनुष्य दूसरों से अपनी रक्षा करने की फिर चेष्टा नहीं करता। क्योंकि वह अनुभव करता है कि एक ब्रह्म ही हर घड़ी, सभी स्थानों पर अनेक रूपों में प्रकाशित हो रहे हैं।

वैदिक युग में मूंज की घास का व्यवहार किया जाता था। इसी से आत्मा को देह से पृथक् बताने के लिए यह दृष्टान्त दिया गया है। किन्तु श्रीरामकृष्ण ने इस युग के मनुष्य को समझाने के लिए आत्मज्ञान का उपाय बताने के निमित्त प्याज के छिलके को छुड़ाने की उपमा का व्यवहार किया है। उल्लिखित उपनिषद् के तीन मन्त्रों में आत्मा को जिस प्रकार जानने की बात कही गयी है श्रीरामकृष्ण ने भी वही बात संक्षेप में कही है। उन्होंने कहा है कि विचार के अन्त में आत्मा को चैतन्य रूप में जाना जाता है।

ऊपर विवेचित कठोपनिषद् के तीन मन्त्र ये हैं—

अंगुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः।

तं स्वाच्छरीरात् प्रवृहेन्मुञ्जादिवेषीकां धैर्येण।

तं विद्याच्छुक्रममृतं तं विद्याच्छुक्रममृतमिति॥ २।३।१७

अंगुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति।

ईशानो भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते॥

एतद्वै तत्॥ २।१।१२

अंगुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः ।
ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्य स उ श्वः ।
एतद्वै तत् ।२।१।१३

"वेद में ऊर्णनाभि की बात है। मकड़ा और उसका जाल। मकड़ा अपने भीतर से जाल निकालता है, फिर स्वयं उसी जाल के भीतर रहता है। ईश्वर संसार के आधार और आधेय दोनों हैं।"

—(श्री श्रीरामकृष्ण वचनामृत)

अथर्व वेद के अन्तर्गत मुण्डक उपनिषद् के १/१/७ वें मन्त्र में कहा गया है—"मकड़ा जिस प्रकार अपने शरीर के भीतर धागा तैयार करता है' वही धागा निकालता है तथा फिर शरीर में उसे खींच लेता है, पृथ्वी पर जिस प्रकार तृण घास आदि उत्पन्न होते हैं; जीवित मनुष्य के शरीर में जैसे केश और रोएँ निकलते हैं; उसी प्रकार ब्रह्म से विश्व ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति होती है।"

कृष्ण यजुर्वेद के अन्तर्गत श्वेताश्वतर उपनिषद् में मकड़े का उल्लेख है। इस उपनिषद् के ६/१० वें मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है:—"मकड़ा जिस प्रकार अपने शरीर से धागा निकालता है, जाल बनता है एवं उसी जाल के ऊपर रहता है एक अद्वितीय ब्रह्म भी उसी प्रकार माया शक्ति का अवलम्बन कर उस माया या प्रकृति के फलस्वरूप नाम और रूप युक्त विभिन्न देहों में वर्तमान रहते हैं।

शुक्ल यजुर्वेद के अन्तर्गत बृहदारण्यक उपनिषद् में भा मकड़े का उदाहरण पाया जाता है। (२।१।२०)उसमें कहा गया है—जिस प्रकार मकड़ा अपने शरीर से धागा निकालता है, जाल बुनता है तथा उसी जाल के ऊपर घूमने निकलता है, जिस प्रकार आग के छोटे-छोटे स्फुल्लिग चारों ओर छिटक जाते हैं, उसी प्रकार आत्मा से सभी इन्द्रियाँ स्वर्ग मर्त्य आदि लोक, सभी देवता एवं समस्त प्राणी प्रकाशित होते हैं। मन्त्र हैं—

(१) यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च
यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति ।
यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि
तथाक्षरात् सम्भवतीह विश्वम्
(मुण्डक उ० १।१।७)

(२) यस्तन्तुनाभ इव तन्तुभिः प्रधानजैः स्वभावतो
देव एकः स्वमावृणोत् । (श्वेताश्वतर ६।१०)

(३)स यथोर्णनाभिस्तन्तुनोच्चरेद् यथाऽग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा
व्युच्चरन्त्येवमेवास्मादात्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः
सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति ।
(बृहदारण्यक उप०)

---

अत्यन्तकामुकस्यापि वृत्तिः कुण्ठति मातरि ।
तथैव ब्रह्मणि ज्ञाते पूर्णानन्दे मनोषिणः ॥

—जिस प्रकार अत्यन्त कामी पुरुष की भी कामवृत्ति माता को देखकर कुण्ठित हो जाती है, उसी प्रकार पूर्णानन्दस्वरूप ब्रह्म को जान लेने पर विद्वान् की संसार में प्रवृत्ति नहीं होती।

—विवेकचूड़ामणि, ४४५

# विवेकतीर्थ में मिस जोसेफिन मैक्लाउड

—स्वामी अमलेशानन्द
रामकृष्ण मिशन, मैसूर

[स्वामी अमलेशानन्द रामकृष्ण इंस्टिच्युट ऑफ मोरल एंड स्पिरिचुअल एडुकेशन मैसूर में कार्यरत हैं। उनके बंगला लेख का हिंदी अनुवाद डॉ. शैल पाण्डेय ने किया है जो इलाहाबाद विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग की प्राध्यापिका हैं—सं०]

भारत दर्शन के द्वितीय पर्व में हिमालय भ्रमण। भारत आत्मा की जो चिरन्तन वाणी तुषारमौलि के गहन गिरि कन्दर में आकाश और वातास में गत सहस्र वर्षों से गुंजित होती रही है, आध्यात्मिकता के उसी प्रबल स्रोत में भिन्न संस्कृति में परिवर्द्धित नारियों को अवगाहन करा कर उनकी चेतना में विवर्तन लाने की आवश्यकता थी। आवश्यकता थी विदेशिनियों को अति उच्च कल्पना के शीर्ष से वास्तविकता की कठोर भूमि पर उतार लाने की। स्वामीजी चाहते थे, जिस स्वप्न के भारत को उन लोगों ने प्रेम किया था, वही प्रेम प्रसारित हो नग्न, दारिद्र्य लांछित, बुभुक्षित जनसाधारण के प्रति भी। भारत के उसी समग्र विराट रूप के साथ परिचय कराने के लिए स्वामी जी मैक्लाउड, निवेदिता और सारावुल के साथ निकले थे लंबी तीर्थयात्रा पर। अल्मोड़ा, नैनीताल, काश्मीर आदि उत्तर भारत के पार्वत्य अंचल में उन लोगों ने प्रायः छः मास तक भ्रमण किया था। इस सुदीर्घ तीर्थयात्रा में मैक्लाउड ने भारतवर्ष को देखना सीखा स्वामीजी की आँखों से, उसको समझने की चेष्टा की स्वामी जी के हृदय से, अनुभूति से। एक दिव्य चैतन्य के निविड़ सान्निध्य में मैक्लाउड के भिन्न सांस्कृतिक परिवेश में परिपुष्ट आजन्म लालित ध्यान धारणा में द्रुत रूपान्तर होने लगा। भारतवर्ष के एक महान रूप के साथ उनका परिचय हुआ। उन्होंने आविष्कार किया उस भारत का जहां दारिद्र्य है पर दीनता नहीं, अनाहार है पर अशांति नहीं। देखा पराधीनता के अपमान में औंधे भारत को। उन्होंने प्यार किया इसी भारतवर्ष को। प्यार किया इसके आकाश, नदी, मिट्टी-हवा, इसके मनुष्य-धर्म-संस्कार आदि सब को। यही भारत है जो विवेकानन्द की जन्मदात्री है, उनका स्वप्न, उनका सत्य, उनका सब कुछ है। इसी भारत की उन्नति के लिए ही तो है स्वामी जी का रक्त-मोक्षण, यंत्रणा-जर्जर हृदय से विश्व-परिभ्रमण। उसी सद्यःजात श्रद्धा और प्रेम की प्रेरणा से मैक्लाउड ने एकदिन जिज्ञासा की थी स्वामीजी से—"मैं भारतवर्ष के लिए क्या कर सकती हूँ स्वामीजी?" "भारत को प्रेम करो" संक्षिप्त परन्तु व्यापक व्यंजनामय निर्देश था मैक्लाउड के प्रति स्वामी जी का। अवशिष्ट जीवन मैक्लाउड ने हृदय उजाड़ कर के प्रेम किया था स्वामीजी को, स्वामी जी के भारत को, स्वामी जी के महान मिशन को। उनका यह प्रेम अभिव्यक्त हुआ है जीवन के अंतिम दिनों के चिट्ठी-पत्रों में। अनेक दिनों बाद जीवन-संध्या में बेलुड़-मठ के अतिथि-भवन में बैठकर गंगा के वक्ष पर उदास दृष्टि डाल कर गोधूलि-आलोक के वर्ण वैचित्र्य को देखते-देखते मुग्ध होकर उन्होंने लिखा है,—"इस गंगा को मैं कितना प्यार करती हूँ। वे (भारतवासी)

जो इसी गंगा को पूजा-निवेदन करते हैं, इसमें विस्मय की कोई बात नहीं। कितनी अद्‌भुत सुन्दर आकर्षणीय, जीवनदायी ! कभी भी अकस्मात् वह पुरानी नहीं होती ।" [प्रबुद्ध भारत—१९७६. पृष्ठ ६१.] अमेरिका लौटने के पूर्व मैक्लाउड ने अपना बहुत दिनों के कष्ट से संचित आठ सौ डालर रख दिया स्वामी जी के हाथ में अपनी भारत सेवा के अनुदान के रूप में। वह धन उसी समय बहुत आग्रह से गृहीत हुआ था एवं अविलम्ब ही स्वामी जी द्वारा प्रवर्तित प्रथम बंगला पत्रिका 'उद्‌बोधन' के लिए प्रेस खरीदने में व्यय किया गया था।

एक आनन्दमय अभिज्ञता और दिव्य अनुभूति हृदय में भर कर अमेरिका लौट गयीं मैक्लाउड। स्वामी जी के घनिष्ठ सान्निध्य में आकर भारतवर्ष की पवित्र भूमि का पद-स्पर्श करके, धर्म के सम्बन्ध में उनकी दृष्टि क्रमश: स्वच्छ से स्वच्छतर हुई। उनका आदर्श अब ध्रुवतारे की तरह ही था उज्वल और स्थिर। स्वामी जी के मिशन को सफल बनाने के लिए उन्होंने सर्वतोभावेन आत्म-नियोग किया। इस महादेश में जिस विशाल वृक्ष के बीज को स्वामी जी वपन कर गये थे, वह शीघ्र ही अंकुरित हुआ उनके एकान्त अनुगत कुछ मित्रों के अदम्य प्रयास से। उस शिशु-पौधे में जल-सिंचन की गुरुत्वपूर्ण भूमिका जिन लोगों ने ग्रहण की थी, मिस मैक्लाउड उनमें अन्यतम थीं।

१८९९ ई० की २८ अगस्त को, प्राय: साढ़े तीन वर्ष बाद दूसरी बार स्वामी जी न्यूयार्क पहुँचे। संगी थे गुरुभ्राता स्वामी तुरीयानन्द और निवेदिता। जहाज-घाट पर उनको लेने आये थे रिज़ली मैनर से मडम्टम एवं न्यूयार्क वेदान्त सोसाइटी के सभ्य द्वय मिसेज कालस्टन और सिडनी क्लार्क। सुदूर भारतवर्ष से सागर पार के अमेरिका वासियों के लिए विवेकानन्द क्या केवल वेदान्त की वाणी ही वहन करके लाये थे ? नहीं, अपार्थिव वस्तु के अतिरिक्त और भी कुछ पार्थिव तुच्छ वस्तु भी अत्यन्त सावधानी से वहन करके लाये थे, आक्षरिक अर्थ में अपने हाथ में, और वह थी, कागज के टुकड़े में लिपटी हुई एक बड़े आकार की बोतल।" बोतल में था एक विशेष प्रकार का भारतीय सॉस और उसे वे लाए हैं 'जो' के लिए। कहने की आवश्यकता नहीं है कि मिस जोसेफिन मैक्लाउड बहुत दिन पहले ही स्वामी जी के स्नेह की 'जो' में परिणत हो गयी थीं।

स्वामी जी का वास-स्थान निश्चित हुआ था रिजली मैनर में। प्राय: ढाई महीने मैक्लाउड वहां उनके सान्निध्य में रही थीं। इस समय स्वामी जी के सम्बन्ध में अपनी आनन्दमय अभिज्ञता का विनिमय किया था ओली बुल के साथ. "स्वामी जी धन्य हैं और उनका नवीन संदेश समयानुकूल है—कि जीवन में जो कुछ है, वह चरित्र है, कि बुद्ध और ईसा भलाई से कहीं अधिक करते हैं, क्योंकि मानव जाति, इसके अपने चरित्र के विकास के स्थान पर. उनके अनुकरण का प्रयास कर रही है ! ओह यह महान है और मुझे रोमांचित करता है, कि अपनी अत्यधिक जरूरत के समय व्यक्ति अकेले स्थिर रहता है। ········ ये वस्तुत: नवीन संदेश से युक्त एक ऋषि हैं।"[Swami Vivekananda His Second Visit To The West—New Discoveries. P—107.) किन्तु प्रोफेट की 'नववार्ता' सुनने के लिए उन्मुख रहने पर भी एक दैव दुर्विपाक से उसमें विघ्न पड़ा। लॉस एंजेलस से एक पत्र द्वारा खबर आयी कि मैक्लाउड के भाई टेलर लॉस एंजेलस के मकान में गंभीर रूप से अस्वथ हैं। दो घंटे के भीतर ही मैक्लाउड अपने 'ग्रेट समर' के आनन्द का त्याग करने लॉस एंजेलस जाने के लिए प्रस्तुत हुईं। स्वामी जी ने हाथ उठाकर संस्कृत में शुभ कामना व्यक्त की और बोले—"कुछ कक्षाओं की व्यवस्था कर डालो, तभी मैं हाजिर हो जाऊंगा।"

उन्होंने उस दिन 'जो' के अनासक्त-भाव की प्रशंसा करते हुए कथा प्रसंग में कहा था, "यहाँ रिजली में इस समूह में वही एकमात्र है, जिसने स्वाधीनता अर्जित कर ली है। .....वह हर वस्तु और हर व्यक्ति को पा सकती थी और कभी बिना पीछे की ओर देखे अपना काम करने निकल पड़ती है—यह एक ऐसा गुण है जो हजारों जन्मों के बाद प्राप्त होता है।"[New Discoveries.. Second Visit ........P. 113]

लॉस एंजेलस में कक्षाओं की व्यवस्था करके मैक्लाउड ने स्वामी जी को वहां निमंत्रित किया। दैवयोग से मिसेज ब्लॉजेट नामक जिस महिला के घर में उनके भाई को चिकित्सा के लिए रखा गया था, वे स्वामी जी के गुणों पर मुग्ध थीं। ब्लॉजेट के घर में ही स्वामी जो के रहने की व्यवस्था हुई थी। वहां से मैक्लाउड की व्यवस्थापना में कैलीफोर्निया के विभिन्न स्थानों में नियमित कक्षाएं एवं वक्तृतायें चलती रहीं। यहीं रहने के समय स्वामी जी ने अपनी विख्यात 'ईशदूत जीसस क्रीस्ट' वक्तृता दी थी। उस विशेष दिन मैक्लाउड को लगा था 'स्वामी जी मानो आपाद-मस्तक एक शुभज्योति से आवृत्त हैं' और एक बात को उन्होंने लक्ष्य किया था, 'स्वामी जी के निकट जो कोई आता वह एक शांति और शक्ति लेकर घर लौटता। वे मानो अपना आध्यात्मिक तेजवीर्य दूसरे में संचारित कर देते।' [युगनायक विवेकानन्द-तृतीयभाग पृ० २७०]

अमेरिका से स्वामी जी पेरिस पहुँचे ३ अगस्त १९०० ई० को। वहां उस समय महाप्रदर्शनी के उपलक्ष्य में अनेक गण्यमान्य पंडितों का जमघट था। उनका वासस्थान निश्चित हुआ था मि० लेगेट के गृह में। लेगेट दम्पति के आतिथ्य में उनके गृह में उस समय नित्य अनेकों कवि, दार्शनिक, वैज्ञानिक, चित्रकार, शिल्पी, मूर्तिकार, वादक आदि गुणीजनों का समावेश होता था। "वह पर्वत-निर्झरवत् वार्ता की छटा, अग्निस्फुलिंगवत् चतुर्दिक समुत्थित भावविकास, मोहिनी संगीत, मनीषी मनः संघर्ष समुत्थित चिन्तामंत्र-प्रवाह सभी को देशकाल भुलाकर मुग्ध किए रखता था।" [वाणी और रचना—६।१२५] मिस मैक्लाउड यहां स्वामी जी के व्यक्तिगत सहायक की भूमिका ग्रहण कर उन सब विवेचनाओं, वक्तृताओं, कक्षाओं आदि की व्यवस्था करतीं। पेरिस में तीन महीने रहने के पश्चात् स्वामी जी ने मैक्लाउड मादाम लॉयजन, मादाम काल्वे और मोशिये ज्यूल बोया के साथ यूरोप के कई एक देशों को देखने के उद्देश्य से यात्रा की। वे लोग कन्स्टेन्टिनोपल, वियेना, एथेन्स आदि होकर कैरो पहुँचे। कैरो में हठात् स्वामीजी की भारत लौटने की इच्छा प्रबल होने पर उन्होंने दलत्याग करके स्वदेश की ओर एकाकी यात्रा की। मैक्लाउड अन्यान्य संगियों के साथ जापान गयीं। वहां से विख्यात शिल्पी ओकाकुरा के साथ द्वितीय वार भारतवर्ष आयीं एवं बेलुड़-मठ में स्वामी जी का दर्शन किया। [६ जनवरी १९०२ ई०]। इस बार ही स्वामी जो के साथ स्थूल शरीर में उनका अंतिम साक्षात्कार था। उसी अंतिम काल के स्वामी जी के साथ बेलुड़-मठ में अवस्थान करते समय की दो एक घटनाएं मैक्लाउड के मन में उज्ज्वल हुई थीं। मार्च के शेष के एक दिन की घटना का उन्होंने उल्लेख किया है।" एक दिन बेलुड़-मठ की क्रीड़ा प्रतियोगिता में भगिनी निवेदिता पुरस्कार-वितरण कर रही थीं। मैं स्वामी जी के शयन-गृह की खिड़की के किनारे खड़ी देख रही थी। उस समय उन्होंने मुझसे कहा, मैं कभी भी चालीस पार नहीं करूंगा।' उनकी आयु उस समय उन्तालिस वर्ष थी, यह मैं जानती थी; इसी से मैंने कहा, 'किन्तु स्वामी जी बुद्ध के जीवन का महान कार्य तो उनके चालीस से अस्सी वर्ष की उम्र के बीच हो हुआ था, उसके पहले नहीं हुआ।' उन्होंने तब भी कहा,

'मुझे जो देना था, वह दे चुका हूँ, अब मुझे जाना ही होगा।' 'जाएंगे क्यों ?'—मैंने जिज्ञासा की। उन्होंने उत्तर दिया, 'बड़े वृक्ष की छाया में छोटे वृक्ष बढ़ नहीं पाते। उनको जगह देने के लिए मुझे जाना ही होगा' महाप्रस्थान के दो दिन पूर्व वे कह गये, इस बेलुड़ में जिस आध्यात्मिक शक्ति की क्रिया आरंभ हुई है, वह डेढ़ हजार वर्षों तक चलेगी—वह एक विराट विश्वविद्यालय का रूप लेगी। यह मत सोचना कि यह मेरी कल्पना है, यह मैं नेत्रों के सामने देख पा रहा हूँ।" [Reminiscences of Swami Vivekananda. P—249]

विवेकानन्द चले गये। किन्तु उनकी आत्मा का तो अवसान नहीं है। वे शत-शत अनुगामियों के हृदय में अधिष्ठित होकर अमर हैं चिरकाल। मैक्लाउड विवेकानन्द की दिव्य स्मृति को हृदय में धारण करके बची रहीं और भी प्रायः तीस वर्ष तक। उनकी जो यात्रा एक दिन शुरू हुई थी विवेकानन्द महातीर्थ में, वह यात्रा अव्याहत रही जीवन के अंतिम लग्न पर्यन्त। अशरीरी विवेकानन्द की दिव्य उपस्थिति उनकी चेतना में प्रतिक्षण बनी रही। वे हो गयी थीं विवेकानन्दमय। इसके बाद प्रायः ही वे स्वदेश छोड़कर भारतवर्ष आयीं, स्वामी जी के स्मृतिपूत बेलुड़-मठ में। मठ के साधु-भक्तों के साथ उनका आत्म-योग था। आकर वे मठ के अतिथि-भवन में रहती थीं। नवागत साधु ब्रह्मचारीगण स्वामी जी की प्रिय 'जो' के मुँह से अत्यंत आग्रह से सुनते थे स्वामी जी के विषय में कितनी ही स्मृतियाँ, कितनी ही कहानियाँ! मैक्लाउड उन लोगों के स्नेह की 'टैंटीन' में रूपान्तरित हो गयी थीं 'टैंटीन' सर्वदा ही स्वामी जी का अपने मित्र के रूप में उल्लेख करतीं। जीवित-काल में स्वामी जी के साथ उनका सम्पर्क बंधुत्व का था। किन्तु उनलोगों का वह बंधुत्व' का संबंध केवल जागतिक अर्थ में ही सीमाबद्ध नहीं था, इसकी व्यंजना और भी गंभीर और भी व्यापक थी एवं वह एकमात्र 'जो' की निजी भावनाओं से भावित थी। प्रायः अंतिम जीवन में दैवक्रम से मैक्लाउड की विवेकानंद-पूजा का एक अति प्राणस्पर्शी चित्र हठात् व्यक्त हो उठा एक संन्यासी—स्वामी विजयानन्द के सामने। उन्होंने इस घटना को हमलोगों को सुनाया 'उद्बोधन' पत्रिका के माध्यम से—"एक दिन संध्या को कुछ जपतप करने के बाद बुढ़िया के घर में आया। देखा वे सदा की भाँति मोढ़े पर नहीं बैठी हुई हैं। उनकी खोज में पूरा बरामदा घूमकर दक्षिण-पूर्व कोने से एक अद्भुत दृश्य देखा। पश्चिम-दक्षिण कोने में एक ताख है; वहां सोमानन्द स्वामी (स्वामी जी के एक शिष्य) द्वारा भेजा गया एक छोटा, लकड़ी का मंदिर था, बंगलोर जेल के कैदी द्वारा निर्मित। उसमें फ्रांसीसी शिल्पी लालीक् द्वारा निर्मित क्रिस्टल की स्वामी जी की परिव्राजक मूर्ति। उधर देखा, देखकर एकदम स्तंभित, तीन-चार अगरबत्ती जलाकर घुमा घुमाकर टैंटीन स्वामीजी की आरती कर रही हैं। कुछ क्षण घुमाने के बाद अगरबत्तियों को अत्यंत सावधानी से धूपदानी में रख कर, धीरे से अंगुलियों से स्कर्ट का कोना थोड़ा उठा कर नाचना आरंभ किया। अभिभूत होकर देख रहा हूँ। नाच तीन-चार मिनट तक चला, इसके पश्चात् घूमते ही मुझे देखकर खटखट करके आगे आकर अश्रुपूरित नेत्रों से बोली, Who cares that nigger!' मैंने भी जवाब दिया, 'Yes, who cares!' इसके बाद टैंटीन जीवन में पहली बार मुझे हृदय से लगाकर मस्तक पर अजस्र अश्रु-वर्षण करने लगीं; इसी के बीच बोलीं, 'My child, He is God. Hear me well. He *is* God, not *was*.' बोल कर खूब धीरे से अपने मोढ़े पर बैठ कर कहा, 'Let's go to The Abbot, इसके बाद उठकर महापुरुष जी के सीधे जाकर उनकी खाट पर, पैर झुलाकर बैठ गयी। मैंने दरवाजे के बाहर से इतना ही सुना, 'My dear

Abbot, this child of ours tonight has taken out a great secret from me.' [उद्‌बोधन, १३९१, पृ० ४२१]

मैक्लाउड के अपने को स्वामीजी का मित्र कहकर परिचय देने पर भी उनका संबंध था गुरु-शिष्या का, अंततः हमलोगों के भारतीय दृष्टिकोण से। स्वामी अभयानंदजी ने, जो बेलुड़ मठ की प्रायः प्रथम अवस्था से ही हैं एवं मैक्लाउड को अत्यंत घनिष्ट रूप से देखा है, कहा है, "मैं खूब अच्छी तरह से जानता हूँ, वे स्वामीजी की शिष्या ही थीं। किंतु मैक्लाउड स्वामीजी को गुरु से अधिक अपनी निज आत्मा स्वरूप जानती थीं।...... .... स्वामीजी ने स्वयं उन्हें मंत्र दिया था। उनसे ही जाना है, स्वामीजी ने उन्हें मंत्र स्वरूप कुछ दिया था। किन्तु कुछ क्षण पश्चात् मैक्लाउड उनके समीप जाकर बोलीं, 'स्वामीजी, मुझसे नहीं होगा।' स्वामीजी इसके उत्तर में बोले, 'ठीक है, कोई भय नहीं।' अनेक वर्षों के बाद जब मैक्लाउड बेलुड़-मठ में वास कर रही थीं, तभी उनमें मंत्र की क्रियाशक्ति प्रकाशित होने लगी थी—उनके अपने किसी प्रयत्न के बिना ही। प्रतिदिन खूब भोर में उठकर वे ध्यान करती थीं एवं अत्यंत स्वतःस्फूर्त भाव से ही ध्यान में तन्मयता आती—यह बात उन्होंने स्वयं ही मुझसे कही थी।"

[New Discoveries. The World Teacher III. P. 97]

धर्म साधना का मूल है प्रेम। उस प्रेम के उदय से नष्ट हो जाते हैं स्वार्थ मलीनता, अहंकार, अज्ञान। मिस जोसेफिन मैक्लाउड ने विवेकानन्द के जीवन की अन्तरंग अनुगामिनी होकर, प्राप्त किया था उसी दिव्य प्रेम को। उनका सत्य, उनकी साधना, उनका आनन्द, उनकी अनुभूति सभी एकाकार होकर एकीभूत हुए थे एक मात्र चिरन्तन सत्ता में, जिसका दूसरा नाम है—विवेकानन्द।

—अनु० डॉ० शैल पाण्डेय

पुण्य तिथि : २१ जुलाई

# माँ सारदा - मेरी समझ

—डॉ० उषा वर्मा

[प्रस्तुत लेख में डॉ० श्रीमती उषा वर्मा ने श्रीमाँ सारदा को शुद्ध मातृत्व की भावना से पढ़ने, परखने और पड़ताल करने का प्रयास किया है। यह लेख एक माँ के द्वारा एक विश्वमाता को अर्पित श्रद्धा-पूर्ण नैवेद्य है। डॉ० उषा वर्मा सम्प्रति जगदम कॉलेज, छपरा में हिन्दी विभाग की रीडर हैं।—सं०]

स्त्री को समझना यों भी कठिन है। साधारण स्त्रियों को समझने के प्रसंग में भी विद्वानों और साहित्यकारों ने अपनी असमर्थता व्यक्त की है। तुलसीदास जी ने अपने 'रामचरित मानस' में नारी-मन की दुरूहता को व्यक्त करने के लिए एक अतिशयोक्ति पूर्ण बात कही है कि 'विधिहुँ न नारि हृदय गति जानी।' फिर माँ सारदा तो असाधारण थीं। श्री रामकृष्ण परमहंस की धर्म-संगिनी थीं, जो परमात्मा की ओर से उन्हीं के लिए विशेष रूप से चिह्नित करके भेजी गयी थीं। ठाकुर उन्हें अपनी शक्ति कहा करते थे। उन्हें सरस्वती का अवतार मानते थे। माँ दुर्गा के रूप में उनकी पूजा की थी। वे कहते थे, "वह क्या जो सो है ? वह तो मेरी शक्ति है। वह है सारदा—सरस्वती - ज्ञान देने

आयी है।"२ उनकी मान्यता थी कि जो माँ मंदिर में हैं वही माँ सारदा देवी के रूप में अवतरित हुई हैं। एक बार माँ सारदा के यह पूछने पर कि आप मुझे किस रूप में देखते हैं, ठाकुर ने कहा था "जो माँ मंदिर में हैं उन्होंने ही इस शरीर में जन्म लिया है, वे ही नौबतघर में रहती हैं और वे ही मेरी पद सेवा कर रही हैं। सचमुच मैं तुम्हें साक्षात आनन्दमयी माँ के रूप में देखता हूँ।३ एक बार अपनी भाँजी लक्ष्मी के भ्रम में ठाकुर ने माँ को 'तू' कह दिया था तो काफी उद्विग्न हो गये थे और बार-बार माँ से क्षमा माँगने लगे थे।४ एक बार ठाकुर को लगा था कि माँ बहुत खर्च करती हैं क्योंकि ठाकुर के भक्त जो मिठाइयाँ-संदेश लाते थे माँ उन्हें तुरत महल्ले के बच्चों में बाँट देती थीं और इस बीच कोई आ गया तो ठाकुर के पास उसे देने के लिए कुछ नहीं रहता था। भक्त को कुछ नहीं देना ठाकुर को पसन्द नहीं था। इसीलिए उन्होंने कहा था 'इतना खर्च करने से कैसे चलेगा ?" माँ उनकी बात का कोई उत्तर दिये बिना कमरे से निकल गयी थीं और ठाकुर यह सोच कर अशांत हो उठे थे कि माँ नाराज हो गयी हैं। उन्होंने अपने भतीजे से कहा था—"अरे रामलाल, अपनी चाची को जाकर शांत कर। उनके क्रोध करने से (अपनी ओर हाथ से दिखाकर) इसका सब कुछ नष्ट हो जायगा।"५ वे अक्सर कहा करते थे कि किसी पर उनके रुष्ट हो जाने पर तो उसकी रक्षा हो सकती है पर माँ के रुष्ट हो जाने पर ब्रह्मा, विष्णु और महेश भी रक्षा नहीं कर सकते। ठाकुर आजीवन उनके असाधारणत्व को रेखांकित करते रहे थे। स्वामी विवेकानन्द माँ को बगला देवी का अवतार मानते थे। लाटू महाराज उन्हें साक्षात लक्ष्मी के रूप में देखते थे। अन्य भक्तों ने भी उन्हें किसी न किसी देवी अवतार के रूप में देखा था। स्वयं माँ ने एक बार बातों ही बातों में सीता से अपना एकत्व स्वीकार किया था। रामेश्वर की यात्रा से लौटने पर एक दिन उन्होंने कहा था कि रामेश्वर का शिवलिंग वैसा ही है जैसा त्रेता युग में वे सीता के रूप में रख गयी थीं।६ एक बार ठाकुर के भतीजे शिवराम जी के हठ करने पर माँ ने स्वीकार किया था कि वे काली हैं। वे शिवराम जी के साथ कमारपुकुर से जयराम बाटी जा रही थीं। शिवराम जी अचानक चलते-चलते रुक गये। माँ ने कारण पूछा तो उन्होंने कहा था कि पहले यह बतावें कि आप कौन हैं तभी वे आगे बढ़ेंगे। पहले तो माँ ने टालने की कोशिश की और कहा कि मैं तेरी चाची हूँ। पर जब शिवराम जी ने हठ किया कि आप वस्तुतः हैं कौन—तब माँ को कहना पड़ा था कि वे काली हैं।८ बागदी दम्पति को भी वे काली के रूप में ही दिखी थीं। एक बार माँ सारदा जयराम बाटी से कलकत्ता जाते समय अपने संगी-साथियों से बिछुड़ गयी थीं। रास्ते में रात हो गयी। फिर उन्हें एक काला कलूटा आदमी आता हुआ दिखाई दिया और एक कर्कश आवाज सुनाई पड़ी—"इस समय वहाँ कौन खड़ी है ?" माँ ने उसे अपना परिचय दिया। इस बीच उसकी पत्नी भी वहाँ आ गयी थी। फिर दोनों ने माँ के साथ बड़े स्नेह आदर का व्यवहार किया था। बाद में कारण पूछने पर उन्होंने बतलाया कि वे उन्हें माँ काली के रूप में दिखी थीं।९

ऐसी माँ को शब्दों में बाँध पाना—ठीक-ठीक समझ पाना कितना कठिन है! प्रायः असम्भव! मेरी हस्ती ही क्या है जब कि उनके अनन्य सेवक और परम भक्त स्वामी सारदानन्द जी ने श्री माँ को समझ पाने में अपनी असमर्थता प्रकट की है। एक बार श्री रामकृष्ण के अन्तरंग संन्यासी शिष्य तथा 'श्री रामकृष्ण लीला प्रसंग' नामक महान ग्रन्थ के रचयिता स्वामी सारदानन्दजी से माँ सारदा की एक विस्तृत एवं समीक्षात्मक जीवनी लिखने को कहा गया तो वे एकबारगी चुप हो गये

और फिर यह बंगला भजन गुनगुना कर अपनी असमर्थता प्रकट की—

> रंग देख रंगमयी के अवाक हूँ।
> हँसूँ या रोऊँ इसी सोच में बैठा हूँ।
>
> रहा सदा साथ उनके, फिरा पीछे-पीछे
> फिर भी न समझ पाया कुछ पराजित हुआ हूँ।
>
> विचित्र उनकी भावलीला—
> सांझ सबेरे गढ़ना तोड़ना।
>
> हाँ, समझ में कुछ आया
> ठीक मानो बालक का खेलना।१०

मैंने श्री माँ को जितना समझा है, मुझे लगता है कि माँ का अवतार होना उन्हें समझने में उतना बाधक नहीं रहा है जितना कि उनका स्त्री होना और अपने आप में पूर्ण होना। पूर्णता आकर्षित करती है, किन्तु स्वयं को परिभाषित नहीं होने देती। ईश्वर अपने आप में पूर्ण है तो उसकी व्याख्या—परिभाषा में कई दर्शन निर्मित हो चुके हैं और आज तक वह किसी दर्शन में, किसी भी परिभाषा में पूरा-पूरा अंट नहीं पाया है। वेदों ने 'नेति-नेति' कह कर ईश्वर को परिभाषित करने में अपनी असमर्थता व्यक्त की है। संभवतः सृजन की क्षमता देकर ईश्वर ने स्त्री को भी एक हद तक अपने जैसा ही गूढ़ और रहस्यमय बना दिया है। श्री माँ सारदा के साथ यही हुआ है। उनके स्त्री होने ने उन्हें रहस्मययी बनाया है, उनकी पूर्णता ने उस रहस्य पर शान चढ़ाई है।

माँ सारदा को यह पूर्णता मिली है उनमें मातृशक्ति के चरम विकास से। स्त्री की पूर्णता उसके मातृत्व में है। मातृभाव आते ही उसमें गजब का विस्तार आ जाता है। उसकी सारी चंचलता, उसकी सारी बेचैनी मानो मातृभाव तक पहुँचने के लिए ही हो। यह बेटी, बहन और पत्नी बनती है माँ बनने के लिए। माँ होना उसका लक्ष्य है। मातृत्व उसकी मंजिल है। हिन्दी की प्रख्यात कवयित्री और गद्यलेखिका महादेवी वर्मा ने कहा है कि स्त्री में माँ का रूप ही सत्य, वात्सल्य ही शिव और ममता ही सुन्दर है। यानी मातृत्व पाकर स्त्री सत्यं शिवं सुन्दरम् में परिणत हो जाती है। श्री माँ सारदा एक अच्छी बेटी थीं, अच्छी बहन थीं, अच्छी आदर्श पत्नी थीं। पर सबसे अच्छी, सबसे पूर्ण वे माँ थीं। उनके माँ का रूप इतना विराट था कि अन्य सारे रूप रिश्ते उसमें समाहित हो गये थे। वे अपने माता पिता की माँ बन गयी थीं। अपने भाइयों की माँ बन गयी थीं। अपने सगे-सम्बन्धियों की माँ बन गयी थीं। यहाँ तक कि अपने पति ठाकुर की भी माँ बन गयी थीं।

माँ सारदा जननी नहीं थीं। किन्तु, वे माँ थीं। यह इसलिए संभव हुआ कि मातृत्व भाव के विकास के लिए जननी होना अनिवार्य नहीं है। जननी होने की तो कभी-कभी मजबूरी भी होसकती है। पर मातृत्व कभी भी कहीं भी मजबूरी नहीं है। वह तो एक मानसिक स्थिति का नाम है। एक मिजाज है। आत्मिक विस्तार का भाव है। जैसे ही वह मानसिक स्थिति आती है, उस आत्मिक विस्तार का बोध होता है, स्त्री मातृभाव से भर जाती है। उस भाव के एहसास के लिए किसी को जन्म देना अनिवार्य नहीं होता। जन्म देकर भी मातृभाव से वंचित रहा जा सकता है। जन्म नहीं देकर भी मातृभाव को उपलब्ध हुआ जा सकता है।

जननी होना प्रायः एक सीढ़ी है मातृत्व तक पहुँचने को। किन्तु जो अधिक समर्थ हैं वे सीढ़ी से एक-एक कदम नहीं भी जा सकते हैं। कमजोर के लिए तो सीढ़ी के बावजूद सहारे की आवश्यकता पड़ सकती है। शक्तिशाली को, असाधारण को सीढ़ी की आवश्यकता भी नहीं रह जाती। माँ सारदा को मातृभाव के विकास के लिए जननी की सीढ़ी से गुजरने की आवश्यकता नहीं रही। वे बगैर गुजरे ही उस भाव को उपलब्ध हो गयी थीं। फिर उनके जननी होने से एक खतरा भी तो था।

तब शायद कुछ संतान उनको अधिक अपनी होने का दावा करतीं। माँ फर्क नहीं भी करतीं तो कुछ लोग शक तो कर ही सकते थे। ऐसे में माँ की विराटता पर संकीर्णता के बादल छा जाते। किन्तु, जननी की सीढ़ी पर चढ़े बिना जो चरम मातृत्व उन्हें मिला उसमें किसी भेद-भाव की गुंजाइश नहीं रही। कोई दुराव, कोई झगड़ा नहीं रहा। सब अपने हो गये। सब सगे हो गये। जिसे देखा, माँ की नजर से देखा। जिसे स्वीकारा, संतान की तरह स्वीकारा। जिसे चाहा, बच्चे की तरह चाहा।

जननी से मातृभाव तक पहुँची हुई एक माँ की कहानी मैंने छुटपन में पढ़ी थी। एक माँ अपने बच्चे के लिए टिफिन लेकर स्कूल जा रही थीं। रास्ते में एक दरवाजे पर एक स्त्री मिली, जिसने उस माँ से उधर जाने का कारण पूछा और यह जानकर प्रसन्न हुई कि इसका बेटा भी उसी स्कूल, उसी क्लास में पढ़ता है जिसमें कि उसका बेटा। उसने उस माँ से अनुरोध किया कि चूंकि मैं कुछ आवश्यक कार्यवश आज अपने बेटे के लिए टिफिन लेकर स्कूल नहीं जा सकती, अतः तुम्हीं जाओ और उसे खिला देना। उस माँ ने प्रस्ताव स्वीकार लिया। उसके बेटे का नाम पूछा, पहचान पूछी और टिफिन लेकर स्कूल चली गयी। वहाँ अपने बेटे को टिफिन दिया और उसके बेटे की खोज की। जो नाम उस स्त्री ने बतलाया था उस नाम के उस क्लास में दो-तीन लड़के निकल आये। फिर उसने पहचान के आधार पर खोजना शुरू किया। उसने कहा था कि मेरे बेटे की पहचान यही है कि वह स्कूल का सबसे सुन्दर लड़का है। इसने पूरे स्कूल में देखना शुरू किया पर अपने बेटे से अधिक सुन्दर कोई नजर नहीं आया। बार-बार सब ओर से घूम-फिर कर आँखें अपने बेटे पर ही टिक जाती रहीं और तब लाचार होकर इसने दूसरा टिफिन भी अपने ही बेटे को खिला दिया। लौटते समय फिर वह स्त्री मिली और इसने सारी स्थिति पूरी ईमानदारी से बतला दी और कहा कि बहन तुमने पहचान गलत बतलायी थी। स्कूल में सबसे सुन्दर मेरा ही बेटा है। यह कहानी माँ की ममता की कहानी है। माँ की संकीर्णता की भी।

मेरे मन में बहुत दिनों से एक वैसी माँ की चाहत थी, जो टिफिन लेकर चले तो उसे स्कूल के सभी बच्चे अपने लगें और वह सबमें अपना टिफिन बाँट दे। माँ सारदा के विषय में पढ़ने जानने के बाद मुझे वैसी ही माँ के मिलने का एहसास हुआ। मेरी वर्षों की तड़प को शांति मिली। चाहत को मंजिल नसीब हुई। माँ सारदा वैसी माँ रही हैं, जिन्होंने सारदानन्द जैसे संत और अमजद जैसे डाकू को एक भाव से देखा है। वे कहती थीं— "शरत—जिस तरह मेरा बच्चा है, अमजद भी उसी तरह मेरा बच्चा है।"[११] वे वस्तुतः उस माँ की तरह हैं, जो टिफिन लेकर चली हैं तो रास्ते में जो मिला है अपनी संतान जैसा लगा है और वे सबके बीच अपनी ममता का, अपने वात्सल्य का टिफिन बाँटती रही हैं बिना किसी तरह के भेद-भाव के।

आज हमें वैसी ही माँ की आवश्यकता है। कुछ माताओं की संकीर्णता ने इस संसार में काँटे भी बोये हैं, खाई भी खोदी है। हमारे साहित्य, इतिहास और अनुभव के संसार में वैसी माताओं की कमी नहीं है जो किसी को मात्र इसलिए सताती हैं कि उसे उन्होंने अपनी कोख से जन्म नहीं दिया है। वैसी माँ से प्रदूषण फैलता है। अशांति जन्म लेती है। माँ की गरिमा कलंकित होती है। आवश्यकता तो वैसी माँ की है, जो सिर्फ माँ हो - सबकी माँ हो और सबके बीच अपने वात्सल्य का टिफिन बाँट सके न कि उस तथाकथित माँ की तरह, जो अपने मातृत्व की संकीर्णता के आवेश में अपने बेटे को दूसरे का हिस्सा भी थमा दे।

अगर हम सोचें कि माँ सारदा अवतार थीं इसलिए वैसी मां बन सकीं, हम वैसी नहीं बन सकतीं, तो यह हमारी भूल होगी। पहली बात तो यह कि अवतार अनुकरण से परे नहीं होते। अवतार तो होते ही हैं अनुकरण के लिए, आदर्श स्थापना के लिए। दूसरी बात यह कि एक तरह से हम भी अवतार ही हैं। श्री दुर्गासप्तशती के एकादश अध्याय में कहा गया है—

"विद्या समस्तास्तव दवि भेदाः
स्त्रियः समस्ताः सकला जगत्सु"

अगर यह सच है तो हम भी अवतार हैं। हम भी माँ सारदा की तरह माँ बन सकती हैं। किसी को स्नेह देने के लिए उसे जन्म देने की आवश्यकता नहीं है। साधना की आवश्यकता है। माँ सारदा ने मातृभाव पाया था साधना से। पवित्र चिन्तन, मनन और निदिध्यासन से। सहिष्णुता, निरहंकारिता और किसी का दोष नहीं देखने की अद्भुत क्षमता से। माँ सारदा में गजब की साहिष्णुता थी। जब से उन्होंने होश सम्भाला; सहती ही रहीं। पर उस सहने को उन्होंने कभी अपनी बेबसी नहीं माना। उसका उदात्तीकरण कर लिया और उसे अपना अलंकार बना लिया। निरहंकारिता की तो वे साक्षात मूर्त्ति थीं। उन्हें ठाकुर की अर्द्धांगिनी होने का गौरव प्राप्त था। अनेक व्यक्तियों से अपार आदर-सम्मान मिला था। श्रद्धा मिली थी। गुरु की गरिमा उपलब्ध हुई थी। लोग विविध अवतार के रूप में उनकी अभ्यर्थना करते थे। पर वे उन सबसे बेखबर, अहंकार से कोसों दूर रह अपने यहां आने जाने वालों की सेवा करती थीं। कभी-कभी उनका जूठन तक उठाती थीं और सदैव इस भाव से भरी रहती थीं, कि वे उनकी माँ हैं। किसी का दोष नहीं देखने की तो मानों उन्हें सिद्धि थी। इसके लिए उन्होंने प्रभु से प्रार्थना भी खूब की थी कि मेरी दोष देखने की दृष्टि मिटा दो, जिससे मैं किसी का दोष नहीं देख सकूं। वे प्रायः कहा करती थीं कि 'दोष तो मनुष्य में होगा ही। उसे नहीं देखना चाहिए। उससे अपना ही नुकसान होता है। दोष देखते-देखते दृष्टि दूषित हो जाती है।'[12] उनका अंतिम संदेश भी यही था। एक भक्त स्त्री के बहाने उन्होंने अपने महाप्रयाण के समय हम सबसे कहा था—'बेटी यदि तुम शांति चाहती हो तो किसी अन्य का दोष नहीं देखना। दोष देखो तो अपना ही। संसार को अपना समझना सीखो। कोई व्यक्ति पराया नहीं है। यह संसार तुम्हारा ही है।"[13]

आज सर्वत्र अशांति है। हम चाहते तो हैं कि शांति हो किन्तु इसके लिए कुछ प्रयत्न नहीं करते। हममें सहिष्णुता, निरंहकारिता और दोष न देखने का गुण भी है। पर अत्यन्त छोटे पैमाने पर। हम कुछ खास लोगों के लिए सहिष्णु हैं। निरंहकारी भी हैं। हमें उनका दोष भी नहीं दिखता। पर हमने उन गुणों का विस्तार नहीं किया है। उनका उदात्तीकरण नहीं किया है। सबके लिए उनका उपयोग नहीं करते। इसलिए वे गुण अलंकार नहीं बन पाये हैं। बल्कि स्वार्थ बन गये हैं। दोष में परिणत हो गये हैं।

वर्त्तमान अशांति से उबरने के लिए न शिखर वार्त्ता की आवश्यकता है, न सन्धि-प्रस्ताव की। आवश्यकता मात्र इस बात की है कि इस संसार को घर बनाया जाय। इसके लिए हमें माँ बनना होगा—साहिष्णुता, निरंहकारिता और दोष न देखने की आदत सबके लिए विकसित करनी होगी। घर का सीधा सम्बन्ध माँ से है। जहाँ माँ है वहीं घर है। यानी जहाँ शांति है, स्नेह है, सुरक्षा है, वहीं घर है। घर के लिए एक ही शर्त है कि वहाँ माँ हो। हममें मातृभाव विकसित होगा तो यह दुनिया घर में तब्दील हो जायगी। रहने के काबिल हो जायगी। हम जब तक रहेंगे शांति से रहेंगे। जायेंगे तो शांति से जायेंगे। इस दुनिया को घर

का एहसास दिलाने के लिए ही माँ सारदा ने कहा था—"यह याद रखना कि मेरी एक माँ हैं।"१४ उनके प्रति हमारी सबसे अच्छी श्रद्धांजलि यही हो सकती है कि हम यह याद रखें कि हमारी एक माँ हैं और हम स्वयं भी वैसी माँ बनने की दिशा में पहल करें।

पुरुष भी माँ बन सकते हैं। माँ का संबंध मन से है, न कि देह से। ठाकुर में भी मातृभाव की प्रधानता थी। उनके कई भक्त उन्हें माँ की तरह मानते थे स्वयं माँ सारदा उन्हें माँ काली के रूप में देखती थीं। माँ सारदा का अवतार लेना तभी पूरी तरह से सार्थक होगा जब संसार के स्त्री-पुरुष मातृभाव से भर उठेंगे।□

---

१. विवाह के लिए कन्या ढूँढ़ते समय श्री रामकृष्ण के आत्मीय जनों को जब कोई भी कन्या पसन्द नहीं आ रही थी, उस समय श्री रामकृष्ण नेस्वयं कहा था, "अमुक गाँव में अमुक की कन्या 'तिनके से चिह्नित' कर रखी हुई है, जाकर देख लो।"

श्री रामकृष्ण लीला प्रसंग (द्वितीय खंड)—स्वामी सारदानन्द, अनु श्री नृसिंह वल्लभ गोस्वामी, श्री रामकृष्ण आश्रम नागपुर, पृ. ११७।

२. श्री सारदा देवी—स्वामी वेदान्तानन्द, अनु डॉ० केदार नाथ लाभ, रामकृष्ण आश्रम, छपरा, पुरोवाक (ख)।

३. वही, पृ० १९-२०। ४. वही, पृ० ४२।

५. वही, पृ० ४४।

६. श्री रामकृष्ण के तीन रूप स्वामी ब्रह्मेशानन्द, श्री रामकृष्ण अद्भुतानन्द आश्रम, छपरा, प्र० सं० ६८।

७. वही, पृ० ६२। ८. वही, पृ० ६८।

९. वही, पृ ६१। १०. वही, पृ० ५९।

११. श्री सारदा देवी स्वामी वेदान्तानन्द, अनु० डॉ. केदार नाथ लाभ, रामकृष्ण आश्रम, छपरा पृ० १००।

१२. वही, पृ० ५५। १३. वही, पृ० १०५।

१४ श्रीरामकृष्ण के तीन रूप—स्वामी ब्रह्मेशानन्द, श्री रामकृष्ण अद्भुतानन्द आश्रम, छपरा, सं. पृ० ६९।

# साधना के अन्तराय (४)

—स्वामी ब्रह्मेशानन्द
रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम, वाराणसी

**वासना भय—**

मानव मन की असंख्य वासनाएँ आसानी से नष्ट नहीं होतीं। शंकराचार्य का तो कथन है कि आत्मज्ञान होने के बाद भी वासनाएँ उदित हो सकती हैं। एक ओर जहाँ वासनाओं का नाश साधना का प्रमुख उद्देश्य है, वहीं कुछ वासनाओं को साधना की मुख्य बाधा या अन्तरायों के रूप में लेकर उन्हें दूर करने के उपायों का अवलोकन करना यहाँ उचित होगा। शंकराचार्य साधक के पथ में तीन वासनाओं को मुख्य रूप से बाधक समझते हैं। वे हैं, लोक-वासना, शास्त्र-वासना एवं देह-वासना।

'लोक वासनयाजन्तोः शास्त्र वासनयापि च।
देह वासनया ज्ञानं यथावन्नैव जायते ।।

**लोक वासना—**

लोगों से सम्मान, स्तुति प्राप्त करने की प्रबल वासना लोक-वासना कहलाती है। इससे प्रभावित व्यक्ति सदा इस प्रकार का आचरण करने का प्रयत्न करता है जिससे लोग उसकी निन्दा न करें, तथा सदा स्तुति अथवा प्रशंसा ही करें। थोड़ा-सा विचार करने पर ही यह स्पष्ट हो जायेगा कि यह एक असंभव कार्य है। संभवत: आज तक विश्व में शायद ही कोई व्यक्ति हुआ होगा जिसको निन्दावाद का सामना न करना पड़ा हो। मर्यादा पुरुषोत्तम राम को पवित्रता स्वरूपिणी भार्या भगवती सीता को ही अत्यन्त अकर्णप्रिय निन्दा सुननी पड़ी थी। फिर निन्दा-स्तुति तो सामाजिक प्रथा, आचार-विचार पर भी निर्भर करता है। दक्षिण भारत के ब्राह्मण उत्तर भारत के ब्राह्मणों को मांसाहारी कहकर निन्दा करते हैं तो उत्तर भारतवासी दक्षिण भारत के ब्राह्मणों में प्रचलित मातुल कन्या-विवाह की प्रथा की निन्दा करते हैं। ईसाई लोग हिन्दुओं को मूर्तिपूजक कहकर उनकी निन्दा करते हैं तो हिन्दू ईसाइयों को म्लेच्छ, यवन, अशुचि कहकर निन्दा करते हैं। इस तरह निज निज कुल, गोत्र, बन्धुवर्ग, इष्ट देवता, रीति-रिवाज की प्रशंसा और दूसरों के कुल गोत्रादि की निन्दा विद्वान से लेकर अपढ़ गंवार तक सभी करते हैं। इसीलिए पंडितगण कहते हैं।

शुचिः पिशाचो विचलो विचक्षण:
क्षमोऽप्यशक्तो बलवांश्च दुष्ट: ।।
निश्चिन्त चोरो सुभगोऽपि कामी
को लोकमाराधयितुं समर्थ: ।।

अर्थात् लोग शुचि व्यक्ति को पिशाच, विद्वान व्यक्ति को गर्वीला, क्षमाशील को अक्षम, बलवान को दुष्ट, चित्तहीन व्यक्ति को चोर और सुन्दर व्यक्ति को कामी कह कर निन्दा करते हैं। संसार में कौन सभी को सन्तुष्ट कर सकता है?

यही नहीं, अगर कोई व्यक्ति सभी को प्रसन्न रख सकता है तो समझना चाहिए कि उस व्यक्ति में ही कोई बड़ा दोष है। अपने आदर्शों एवं सिद्धान्तों को तिलांजलि दिये बिना कोई भी व्यक्ति सभी को खुश नहीं कर सकता। इसीलिए श्रेष्ठ योगी, भक्त अथवा स्थितप्रज्ञ के "तुल्य निन्दा स्तुति," "तुल्यमानापमानयो:" आदि लक्षण धर्म-शास्त्रों में वर्णित है।

इस सन्दर्भ में यह उल्लेख करना प्रासंगिक होगा कि जब तक साधक मानापमान के परे नहीं चला जाता तब तक उनके लिए स्तुति, सम्मान एवं प्रशंसा हानिकारक तथा साधना में बाधक होते हैं। जबकि निन्दा एवं अपमान सहायक होते हैं। सम्मान को आसक्ति का कारण एवं पुरुषार्थ का विरोधी होने के कारण मरणतुल्य समझा गया है। अत: कहा गया है:—

असम्मानात् तपोवृद्धि: सम्मानात्तु तपक्षय: ।
अर्चित: पूजितो विप्रोऽदुग्धा गौरिव सीदति ।।

असम्मानित होने से तपोजनित फल की वृद्धि एवं सम्मान से तपक्षय होता है। जिस प्रकार दुग्ध दोहन के बाद गाय अवसन्न हो जाती है, उसी प्रकार सम्मानित एवं पूजित होने पर ब्राह्मण तप-हीन हो जाता है।

अत: साधकों को कभी-कभी इस प्रकार का आचरण करन पड़ता है, जिससे लोग उनकी निन्दा करें तथा उनके साथ मेल-मिलाप न करें, दूर ही रहें। लेकिन यह सदा याद रखना चाहिए कि उनका आचरण धर्म विरुद्ध न हो। कुछ साधक इसीलिए अपनी कुटिया के आसपास हड्डियों को फैला देते हैं, अथवा अपना बाहरी भेष ऐसा

अनाकर्षक बना लेते हैं कि लोग उनसे दूर ही रहें।

**शास्त्र वासना—**

सर्व वासना त्याग रूप संन्यास व्रत ग्रहण करने के बाद भी अनेक साधकों में शास्त्राध्ययन की प्रबल वासना उत्पन्न हो जाती है। उच्च मन: स्थिति बनाये रखने के लिए स्वाध्याय आवश्यक है, लेकिन जब इसके उद्देश्य की ओर से दृष्टि हटकर शास्त्राध्ययन एक वासना का रुप ले लेता है, तब वह महान बन्धनकारक हो जाता है। शास्त्रकारों ने इस शास्त्र वासना के तीन भेद बताये हैं, (१)पाठ-व्यसन (२) बहु शास्त्र-व्यसन तथा (३) अनुष्ठान-व्यसन।

**पाठ व्यसन—**

बहुत पुस्तकें पढ़ने की इच्छा। प्रत्येक विषय में, यहाँ तक कि अध्यात्म विषयक भी अनेक पुस्तकें हैं। कुछ लोगों का पुस्तकों को पढ़ते-पढ़ते पेट भरता ही नहीं। अगर कोई सोचे कि मैं केवल वेद ही पढ़ूंगा, तो वेद भी असंख्य हैं। उनपर टीकाएं, उपटीकाएं भाष्यादि भी अनन्त हैं। उन सभी का पाठ करना असंभव होने के कारण यह वासना मलिन है एवं साधन पथ की बाधक है। यह सदा याद रखना चाहिए कि आत्मविद्या अन्तर्मुखी हुए बिना, एव गुरुकृपा के बिना प्राप्त नहीं हो सकती। श्री राम-कृष्ण कहते थे कि अपने को मारने के लिए तो एक सूई ही पर्याप्त है पर दूसरे को मारने के लिए ढाल-तलवार की आवश्यकता होती है। अर्थात् स्वयं की मुक्ति के लिए तो सत्य-अहिंसा आदि का अनुष्ठान तथा आध्यात्मिक जीवन के दो-एक निर्देशों का पालन ही पर्याप्त है, लेकिन दूसरों को शिक्षा देने के लिए, वाद-विवाद में दूसरों को परास्त करने के लिए बहु-शास्त्र-अध्ययन आवश्यक हो सकता है। यह कार्य कुछ शुष्क पंडितों के लिए छोड़कर साधक अपने स्वाध्याय की एक दो पुस्तकें चुनकर पाठ-व्यसन से दूर रहे।

**बहुशास्त्र व्यसन—**

पाठ व्यसन से सम्बन्धित है नानाशास्त्रों के पढ़ने की इच्छा। अपने धर्म का ज्ञान प्राप्त कर ईसाई धर्म को जानने को, जैन, बौद्ध आदि नाना धर्मों की बौद्धिक जानकारी प्राप्त करने की वासना जाग सकती है। इनसे भी चरम पुरुषार्थ, मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। चारों वेदों को पढ़कर, अनेक धर्म को पढ़कर भी यदि हम ब्राह्मतत्व न जान पायें तो हम उस दर्वी, (चम्मच) के समान हैं जो मिठाई के बर्तन में घुमाई जाने पर भी उसका स्वाद नहीं जानती। ऐसे ही शुष्क पंडितों की तुलना चंदन का भार वहन करने वाले गधे से की जाती है जो चंदन की सुगन्ध को नहीं पहचानता और न ही उसका आस्वादन कर पाता है। छान्दोग्योपनिषद् में नारद-सनत कुमार उपाख्यान में वर्णित है कि चौंसठ कलाओं एवं अनेक शास्त्रों में निपुण होने पर भी देवर्षि नारद को शान्ति प्राप्ति नहीं हुई थी और तब उन्होंने सनत कुमार की शरण ली थी।

**अनुष्ठान व्यसन :—**

इसी से सम्बन्धित एवं मिलती-जुलती वासना है—अनुष्ठान-व्यसन। कुछ लोग एक के बाद एक यज्ञ या पूजा करते ही रहते हैं। या फिर एक तीर्थ के बाद दूसरे तीर्थ का भ्रमण अथवा प्रतिवर्ष तीर्थ भ्रमणादि, तथा तीर्थों में विभिन्न उपचार युक्त पूजा-अर्चना में उन्हें विशेष आनन्द आता है। इन यज्ञ, बाह्य पूजा, एवं तीर्थाटनादि का अपना महत्व है, साधना में अपना एक स्थान है, लेकिन इनकी सीमाएँ एवं दोष भी हैं। जिस मात्रा में ये मन को अन्तर्मुखी करने में सहायक होंगे, उतना ही इनका महत्व है, अधिक नहीं।

उपर्युक्त तीनों प्रकार की शास्त्र वासनाओं का बड़ा दोष यह है कि वे अहंकार एवं दर्प को उत्पन्न करती हैं। व्यक्ति अपने को महान, विद्वान अथवा कर्मकाण्डी समझने लगता है तथा इसके फलस्वरूप

गुरुजनों की उपेक्षा आदि अनेक अनर्थकर कार्य कर बैठता है। इनसे सदा सावधान रहना चाहिए।

इस संदर्भ में संगीत-वासना का उल्लेख करना भी उपयुक्त होगा। भक्ति-संगीत चित्त को शांत करने एवं मन को ईश्वर की ओर प्रेरित करने का एक महत्वपूर्ण साधन है, लेकिन अगर यह व्यसन का रूप ले ले तो व्यवधान बन जाना है। नयी-नयी राग-रागिनियाँ सीखना, एक ही भजन को विभिन्न प्रकार से गा-गा कर संगीत का रस लेना साधना का लक्ष्य नहीं है। तात्पर्य यह है कि सभी साधनों का अनुष्ठान साधक को सावधानी पूर्वक करना चाहिए। खतरों के भय से न तो उन्हें त्यागना चाहिए और न ही उपयोगिता से अधिक उनसे चिपके रहना चाहिए।

**देह वासना :—**

देह वासना के तीन भेद हैं :(१) आत्मत्वभ्रम— देह को आत्मा समझना (२) गुणाधान भ्रम —अर्थात् जो गुण जन समाज में समादृत हैं, उनका अर्जन करने का प्रयास और (३) दोषापनयन भ्रम—देह के रोग एवं अशुद्धियों को दूर करने का प्रयत्न।

देहात्मबोध यानी स्वयं को चैतन्य विशिष्ट देह मात्र समझना, एक ऐसा दोष है जो आसानी से दूर नहीं होता। अधिकांश लोग तो यह धारणा ही नहीं कर पाते कि वे देह से भिन्न आत्मा हैं। इस भ्रम के कारण देह को स्वस्थ, सुन्दर एवं सबल रखने के लिए वे आवश्यकता से अधिक प्रयत्न करते हैं। इसमें समय तो नष्ट होता ही है, मन भी निम्नगामी होता है। औषधि, द्रव्यादि के द्वारा आवाज मधुर करने, शारीरिक सौन्दर्य बढ़ाने, त्वचा को कोमल बनाने के प्रयत्न लौकिक गुणाधान के दृष्टान्त हैं। रोगादि दूर करने के लिए चिकित्सक के परामर्शानुसार दवाइयाँ खाना, दोषापनयन का दृष्टान्त है। वैराग्य-विषयक प्रबन्ध में (विवेक शिखा वर्ष १९८७ में प्रकाशित) देह की अशुचिता के कारण बताये गये हैं। सभी शास्त्रों में देह की अशुद्धता एवं अनात्मता का वर्णन किया गया है। उसकी पुनरावृति यहाँ अनावश्यक है। इस घृणित देह को सुन्दर बनाने का प्रयत्न व्यर्थ है। यह आवश्यक नहीं कि इसमें व्यक्ति सदा सफल ही हो। इसी तरह रोगादि दोष निवृति की भी कोई गारंटी नहीं है। चूँकि देह धर्म-साधन के लिए उपयोगी यंत्र स्वरूप है, मात्र इसीलिए इसकी थोड़ी बहुत देख-भाल करनी चाहिए, इससे अधिक नहीं। संत-साहित्य में अधिकांश उच्चकोटि के साधक देह की या तो पूर्ण उपेक्षा करते अथवा उससे अधिक सख्ती बरतते देखे गये हैं। कोई भी सच्चा साधक देह को अधिक महत्त्व नहीं देता।

**उपसंहार :—**

वासनाएं असंख्य हैं, एवं उनका मूल अहंकार होता है। अहंकार का नाश किए बिना वे समूल नष्ट नहीं हो सकतीं, लेकिन यदि इन वासनाओं में से प्रमुख को समझकर उन्हें दूर किया जा सके तो अहंकार के नाश में भी बहुत सहायता मिलती है। इनमें से एक एक को दूर करते हुए आगे बढ़ा जा सकता है, या सभी पर एक साथ प्रहार भी किया जा सकता है। प्रस्तुत लेख का उद्देश्य रूप-रेखा प्रस्तुत कर देना मात्र है, प्रत्येक व्यक्ति को अपनी रणनीति स्वयं निर्धारित करनी होगी।

धारावाहिक

# स्वामी अद्भुतानन्द (लाटू महाराज) की जीवन कथा

—चन्द्रशेखर चट्टोपाध्याय
अनुवादक—स्वामी विदेहात्मानन्द
रामकृष्ण मठ, नागपुर

## ११ तपस्वी-जीवन

(लाटू की तपोपरायणता, नशात्याग का संकल्प, आहारसंयम का संकल्प और प्रयास, दक्षिणेश्वर में रोग से कष्ट भोगना, आसक्ति पर विजय पाने का संकल्प और ब्रह्मचारी का जीवन बिताना, 'तू क्या सोचता है' प्रसंग, भिक्षाटन को जाना, तीर्थभ्रमण की इच्छा और ठाकुर का उपदेश, लाटू का आँटपुर गमन और वहाँ मानसिक उद्वेग, परीक्षा में उत्तीर्ण होने पर ठाकुर की कृपा पाना, प्रातःकृत्य प्रसंग (जूता खोजने की घटना तथा तपस्वी-जीवन के दैनन्दिन क्रियाकर्म)

हम पहले ही कह आये हैं कि जिस आयु में लाटू को दक्षिणेश्वर में रहने की अनुमति मिली थी वह आयु सामान्य लोगों के लिए बड़ी ही रोमांचकारी होती है। सामान्य लोग युवावस्था में स्वाभाविक रूप से ही चंचल हो उठते हैं। उस चंचलता से बेचैन होकर आदमी आम तौर पर भोग-विलास की ओर उन्मुख हो जाता है। परन्तु उस आयु में भी यौवन में पदार्पण करता हुआ लाटू भोग-विलास की आकांक्षा को त्याग कर दक्षिणेश्वर के अनाडम्बर वैराग्यपूर्ण जीवन की ओर आकृष्ट हुआ था। इसमें कोई सन्देह नहीं कि साधुसंग के माहात्म्य से ही यह बात सम्भव हो सकी थी। साधुसंग के फलस्वरूप लाटू अपनी दोष-त्रुटियाँ समझ सका था और उन्हें सुधारने के लिए जी जान से लग गया था। अपनी दोष-त्रुटियों को दूर करने के लिए लाटू ने जिस कठोर तपस्या, अद्भुत संयम तथा अदम्य दृढ़ता का आश्रय लिया था, वही इस अध्याय में क्रमशः वर्णित होगा। साधक जीवन के प्रारम्भ में ऐसी निष्ठा और तपस्या आज के युग में अत्यन्त दुर्लभ है।

हमें जहाँ तक सुनने को मिला है, उस पर से हम कह सकते हैं कि लाटू अपने बाल्यकाल में जिस समाज में लालित-पालित और बड़ा हुआ था, उसमें मद्यपान कुछ बुरा नहीं माना जाता, यहाँ तक कि उस समाज में पिता-पुत्र के एक समय बैठकर मद्यपान करने की प्रथा भी थी। ठाकुर इस तथ्य से अवगत थे, इसीलिए दक्षिणेश्वर में वे लाटू को नशीली वस्तुओं से सर्वदा सावधान रहने को कहा करते थे। एक दिन उन्होंने अपने इस सेवक को एकान्त में बुलाकर कहा—"देख, सुरा और कामिनी-कांचन भगवान के बारे में संशय पैदा करते हैं, भगवान की प्राप्ति नहीं होने देते। इनमें से किसी एक पर भी आसक्ति हो जाने पर भगवान के मार्ग में बाधा आती है। समझ लेना कि नशा करके ध्यान करना और योगी होकर नारीसंग करना आत्मप्रवंचना मात्र है।" ये बातें सुनकर लाटू की आँखें खुल गयीं। जो आसक्ति सबकी नजरों से परे मन के एक कोने में उठा करती थी उसे ठाकुर

कैसे जान गये, यह बात पहले पहल लाटू की समझ में नहीं आयी; परन्तु बाद में उसकी यह धारणा हो गयी कि ठाकुर से छिपाकर मेरे लिए कोई भी कार्य करना सम्भव नहीं है। इसीलिए परवर्ती काल में लाटू अनेक गोपनीय बातें भी ठाकुर को स्पष्ट रूप से बता देता था।

"जानते हो, एक दिन मैं कलकत्ता में रामबाबू के घर जा रहा था। काशीपुर के मोड़ पर एक शराब की दुकान थी। उसके सामने आकर मन बड़ा चंचल हो उठा, क्यों चंचल हो उठा यह बात मेरी समझ में नहीं आयी। रास्ते में और कुछ भी अच्छा नहीं लगा। अन्त में दक्षिणेश्वर पहुँचकर मैंने उनको सबकुछ कह सुनाया। उन्होंने कहा—'सुरा की गन्ध से ही तेरा मन चंचल हो गया था। तू अब उन सब गन्ध से दूर रहना।'" ठाकुर के इस आदेश का लाटू ने किस प्रकार पालन किया था इस विषय में रामबाबू ने थोड़ा आलोकपात किया है और उसी को हम यहाँ लिपिबद्ध करते हैं।

रामबाबू ने एक दिन ठाकुर से कहा था—"छोकरे को आपने यह क्या आदेश किया है? आपका आदेश पालन करने के लिए लालटू को घुमावदार रास्ते से कलकत्ता पहुँचने के लिए आठ मील चलना पड़ता है।"

इस पर ठाकुर बोले—"लेटो को ऐसा क्या कहा है? कहाँ भाई! मुझे तो ऐसा कुछ भी याद नहीं आता।"

तब रामबाबू ने कहा—"छोकरे को आपने मद्य की गन्ध से दूर रहने को कहा है, इसलिए वह शराब की दुकान के पास से होकर जाने का भी साहस नहीं करता। जिन रास्तों पर शराब की दुकानें हैं, उनसे कतराकर अन्य रास्तों से आवागमन करता है।"

ये बातें सुनकर ठाकुर बड़े गम्भीर से हो गये और बाद में लाटू को बुलाकर बोले—"अरे! सुरा की गन्ध लेने से मना किया है, पर उस रास्ते से होकर जाने को तो मना नहीं किया। दुकान के पास से होकर जाने से कोई दोष न होगा। (अपने सीने पर हाथ रखकर) इसका स्मरण करना, तो फिर कोई भी नशा तेरे मन को खींच नहीं सकेगा।"

ठाकुर की बातों का अक्षरशः पालन करने में वह अलौकिक दृढ़ता और अध्यवसाय दिखाता था। जीवन के विविध क्षेत्रों की अनेक आसक्तियों को—जिन्हें सामान्यतया लोग जीवत्व के संस्कार कहते हैं—उन संस्कारों को जय करने लिए ठाकुर ने उसे जिन उपायों का उपदेश दिया था उन्हें अक्षरशः पालन करने के लिए लाटू दृढ़ संकल्प का आश्रय लेता। जिन क्षेत्रों में आम आदमी के लिए संकल्प की रक्षा सम्भव नहीं है उन क्षेत्रों में भी वह सफल हुआ था। हमने सुना है कि मनुष्य आहार, निद्रा और मैथुन का दास है, परन्तु जो व्यक्ति भगवान की प्राप्ति के लिए दृढ़ संकल्प है, उसे इस त्रिविध आसक्ति से छुटकारा पा लेना होगा। आसक्ति से छुटकारा पाने की चेष्टा ही सच्ची तपस्या कहलाती है। लाटू महाराज के जीवन में इस तपस्या ने क्या रूप ग्रहण किया था, इस विषय में हमने जो कुछ सुना है, अब वही लिखेंगे!

मद्य की गन्ध से बचने के लाटू के दृढ़ प्रयास की बात हम पहले ही कह आये हैं। अब हम आहार की आसक्ति को त्यागने के लिए तापस-लाटू की कृच्छ्र साधना के प्रसंग पर आते हैं। जो व्यक्ति व्यायाम करता है, कुश्ती-कसरत में अभ्यस्त है, जिसकी किशोरावस्था का स्वप्न था एक बड़ा पहलवान बनना, ऐसे व्यक्ति का खानपान की ओर थोड़ा ज्यादा ही रुझान होना स्वाभाविक है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि ऐसे व्यक्ति को पुष्टिकर आहार का लोभ होगा। रामबाबू के घर उसे अपनी इच्छानुसार खाने को मिल जाता था, यह बात

हमने सुनी है। तथापि दक्षिणेश्वर आते ही उसे चर्व-चौष्य-लेह्य-पेय के प्रति अपने उस लोभ का नियमन करना पड़ा था। शुरू शुरू में उसके भोजन का परिमाण काफी अधिक हुआ करता था। परन्तु उसके एक गुरुभाई के प्रति ठाकुर ने जो बात कही थी, उसे सुनकर उसका वह भ्रम दूर हो गया था।

एक बार योगीन महाराज ने ठाकुर के पास रहने की इच्छा व्यक्त की थी। परमहंसदेव ने उनसे पूछा—"रात में क्या खाता है?" योगीन भाई ने कहा—"आधा सेर आटे की रोटियाँ और पाव भर आलू की सब्जी।" सुनकर ठाकुर बोले—"तुझे मेरी सेवा करने की आवश्यकता नहीं। हर रोज आध सेर आटा! इतना तो भाई मैं जुटा नहीं सकूँगा। इससे तो अच्छा होगा कि बलिक तू घर से ही खा-पीकर यहाँ आते रहना।"

"जानते हो! मैं बहुत खा पाता था। एक एक बार में सेर-दो सेर आटे की रोटियाँ खा डालता था। परन्तु एक दिन वे योगीन भाई को खाने के बारे में निर्देश देते हुए बोले—'तपस्या करना है तो आहार घटाना होगा।' वह बात मुझे जंच गयी। मैंने खाना कम कर दिया। पहले पहल बड़ा कष्ट होता था, पर दो चार महीने बाद सब ठीक हो गया। उसके बाद से अधिक खा भी नहीं पाता था। एक दिन मेरा खाना देखकर वे बोले—'और भी थोड़ा कम कर, तभी तो ध्यान-धारणा में मन स्थिर होगा। ज्यादा खाने से ही नींद आयेगी।' उनकी बात सुनकर मैंने अपना खाना और भी घटा दिया। इतना कम खाने लगा लगा कि बीच बीच में भूख की ज्वाला से पेट में दर्द होता था। उन्हें (ठाकुर) इस बात का पता चला, वे बोले—'अरे, इतना करना ठीक नहीं। शरीर धारण के लिए जितना आवश्यक है, उतना खाना, उससे भी कम खाने पर ध्यान धारणा में मन को स्थिर नहीं कर सकेगा।' इस प्रकार वे हम लोगों पर अपनी निगाह रखते थे। उनकी नजर बचाकर कुछ कर पाने की क्षमता हममें न थी।"

एक दिन तापस-लाटू ने कलकत्ते में एक भक्त के घर काफी परिमाण में भोजन कर लिया था। अगले दिन उन गृही भक्त ने आकर ठाकुर के समक्ष लाटू की भोजन-क्षमता की प्रशंसा की। यह सुनकर ठाकुर ने लाटू को अकेले में बुलाकर कहा—'अरे! ऐसा जम के मत खाना। दिन में चाहे तो ठूँसकर खा सकता है, पर खबरदार! रात में ज्यादा न खाना। रात में जलपान के समान भोजन करना।' इसी प्रकार ठाकुर उन्हें विविध प्रकार से उपदेश देने लगे। ठाकुर के उपदेशों पर चलकर दो वर्ष के भीतर ही लाटू के आहार की मात्रा इतनी कम हो गयी थी कि जो भी देखता, दाँतों तले उँगली दबा लेता।

लाटू के कम खाने की बात को लेकर भी लोगों ने फिर उनकी प्रशंसा करनी शुरू कर दी। सुनकर परमहंसदेव एक दिन स्वयं ही उनके भोजन के समय उपस्थित हुए और देखा कि सचमुच ही लाटू बहुत कम खा रहा है; इतना कम खा रहा है कि उससे शरीर पुष्ट नहीं रह सकता। कहीं अत्यन्त कम खाकर लाटू अल्प आयु में अपना शरीर जीर्ण-शीर्ण न कर बैठे, इस भय से कई दिनों तक ठाकुर उसे अपने साथ लेकर ही भोजन को बैठते थे और उसके पत्तल में स्वयं ही घी परोस देते थे। परन्तु प्रकृति ने अत्यल्प आहार करने का फल उसे दिया ही। दक्षिणेश्वर-निवास के दो वर्ष के भीतर ही लाटू को एक महीने तक रोग से कष्ट भोगना पड़ा था। उसका वर्णन हम थोड़ा बाद में करेंगे।

आहार-संयम के साथ ही साथ ठाकुर ने लाटू को निद्रासंयम का निर्देश भी दिया था। अब हम उसी प्रसंग पर आ रहे हैं।

(क्रमशः)

फोन : 53856

रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम
विज्ञानानन्द मार्ग, मुट्ठीगंज
इलाहाबाद—211003
1 अप्रैल, 1988

# पूर्ण कुम्भ मेला शिविर-१९८९

## अपील

मान्यवर,

विश्व का प्रसिद्ध और विशाल धार्मिक पर्व पूर्ण कुम्भ मेला यहाँ जनवरी-फरवरी १९८९ से सम्पन्न होने जा रहा है। इस महापुनीत अवसर पर एक सौ पच्चीस लाख तीर्थयात्रियों, एवं साधुओं के देश के प्रत्येक भाग से और कुछ बाहर से भी भाग लेने की संभावना है। साधुओं, तीर्थयात्रियों तथा कल्पवासियों के लिए चिकित्सा-सुविधा की विशेष व्यवस्था करनी होगी। विगत वर्षों की भाँति इस सेवाश्रम द्वारा इस मेले में एक शिविर संचालन करनेका विचार है जिसमें एकत्रित तीर्थयात्रियों और साधुओं को मुफ्त चिकित्सा सुविधा प्रदान करने हेतु एलोपैथिक और होमियोपैथिक क्लिनिक्स और एक प्राथमिक चिकित्सा केन्द्र खोलने की योजना है। योग्य डाक्टर, कम्पाउण्डर, अतिरिक्त चिकित्सा अधिकारी तथा स्वयंसेवक इस कार्य में सहायक होंगे। तीन सौ तीर्थयात्रियों, एक सौ साधुओं और स्वयंसेवकों के लिए भोजन तथा अस्थायी वासस्थान की सुविधा उपलब्ध करायी जायगी। नियमित धार्मिक कार्यक्रमों के लिए शिविर में एक मन्दिर और सत्संग पंडाल की योजना भी प्रस्तावित है। संपूर्ण शिविर पर अनुमानित व्यय चार लाख का है। अत: सेवाश्रम उदारचरित जनता से पूर्व की भाँति इस पुनीत मानवीयतापूर्ण कार्य में अपना सहज सहयोग प्रदान करने का आंतरिक अनुरोध करता है। सहयोग राशि सधन्यवाद और रसीद सहित ग्रहण की जायगी।

चेक और ड्राफ्ट क्रॉस कर "रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम, इलाहाबाद आदाता के खाते में" (A/C Payee only) लिखकर मुख्यत: पंजीकृत डाक द्वारा भेजें।

धन्यवाद,

प्रभु चरणाश्रित आपका,
स्वामी हर्षानन्द
सचिव

---

१. रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम को दी गयी दानराशि आय कर एक्ट, १९६१, के खंड ८० जी० के मुताविक कर से मुक्त है।

२. प्रमुख स्नान तिथियाँ : १४ जनवरी (मकर संक्रांति), २१ जनवरी (पौष पूर्णिमा), ६ फरवरी (मौनी अमावस्या), १० फरवरी (वसंत पंचमी) और २० फरवरी (माघ पूर्णिमा)।

३. कुम्भ मेला के इस शिविर में भोजन और वासस्थान की सुविधा जो लोग चाहते हों वे विहित प्रपत्र और अग्रिम भुगतान के साथ अपनी जगह आरक्षित करा लें। संबंधित पूर्ण विवरण मई-जून १९८८ तक तैयार होगा।

स्वामी विवेकानन्दजी की १२५ वीं जन्मवार्षिकी महोत्सव

(१२ जनवरी १९८८ से १२ जनवरी १९८९)

इस पावन अवसर पर पाठकों के सपक्ष

# विवेकानन्द साहित्य

(१० खंडों में, प्रत्येक खंड लगभग ४५० पृष्ठों का)

**का एक सस्ता संस्करण**

**प्रस्तुत करते हुए हमें अपार हर्ष हो रहा है**

| | |
|---|---|
| मूल्य | रु. १००/- मात्र |
| **अग्रिम बकिंग मूल्य** | **रु. ६०/- मात्र** |
| (डाक व्यय अलग से) | रु. १५/- मात्र |
| **पुस्तक वितरण तिथि** | **१२ जनवरी १९८९** |

भारतीय जन के मानसपटल पर स्वामी विवेकानन्दजी एक अमिट छाप छोड़ गये हैं। निःसन्देह, उनके विचारों को देश एवम् विदेश के हर घर में पहुँचाने का कर्त्तव्य हर भारतीय का है। अब तक स्वामीजी का सम्पूर्ण साहित्य जिसमें उनके व्याख्यान, पत्र, रचनाएँ आदि समाविष्ट हैं २७५/- रुपय में उपलब्ध था। इस वर्ष स्वामिजी की १२५ वीं जन्म वार्षिकी सारे विश्व में धूम-धाम से मनायी जा रही है। इस पुनीत अवसर पर हमने उनके साहित्य के अंग्रेजी एवम् हिन्दी संस्करण को अत्यल्प मल्य में १२ जनवरी १९८९ से उपलब्ध कराने का निश्चय किया है।

चूंकि परिमित संख्या में ही इसे छापा जा रहा है, अतएव इच्छुक व्यक्तियों से अनुरोध है कि निराशा से बचने के लिए वे शीघ्रातिशीघ्र अग्रिम बुकिंग कर लें।

साथ ही १२ जनवरी १९८९ तक हमारी अन्य सारी पुस्तकों पर १०% की छूट दी जा रही है।

लिखें :—

**अद्वैत आश्रम**

५ डिही इन्टाली रोड

कलकत्ता ७०००१४

डाक पंजीयित संख्या—सी० एच० पी०—१४-८१

अंक—७—१९८८



मूल्य : २.५०



श्रीमती गंगा देवी, जयप्रकाश नगर, छपरा (बिहार) द्वारा प्रकाशित एवं
श्रीकांत लाभ द्वारा जनता प्रेस, नया टोला, पटना—४ में मुद्रित।

के सौजन्य से श्री हिमालय प्रेस में कवर मुद्रित